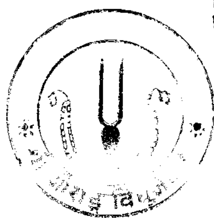
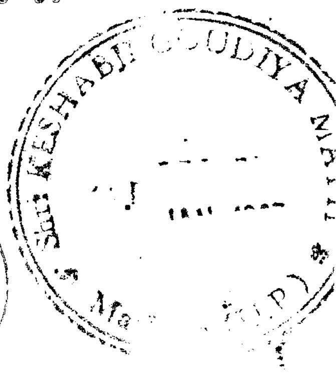
तत्वसन्दर्भः



श्रीजीवगोस्वामी





श्रीजीवसेवासंघ

श्रीचैतन्यकुटी, बेनीपट्टी

षट्सन्दर्भात्मक-

श्रीभागवतसन्दर्भे

प्रथमः

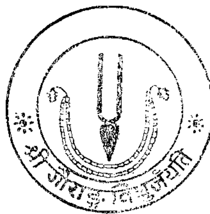
तत्त्व-सन्दर्भः



श्रीमत्श्रीकृष्णचैतन्यसम्प्रदायाचार्य्यवर-

श्रीमज्जीवगोस्वामिचरणैः प्रणीतः

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतटीका तथा हिन्दीटीकासहितः



प्रकाशकः

श्रीजीवसेवासंघ

श्रीचैतन्यकुटी, बेनीपट्टी (दरभंगा)

मूल्यम् : ३) रु०

पुस्तक-प्राप्ति-स्थानम् :
श्रीजीवसेवासंघ-कार्यालय
श्री चैतन्यकुटी,
पो० बेनीपट्टी
जि० दरभंगा
तथा
श्रीजीवसेवासंघ-कार्यालय शाखा :
C/o डॉ० काशीनाथ वर्मा
यारपुर रोड, जी० पी० ओ०,
पटना १





मुद्रक :
घनश्याम प्रेस
नवीनकोठी, पटना ४



श्रीश्री १००८ श्रीचैतन्यमहाप्रभुः



श्रीजीवसेवासंघ के जन्मदाता

श्रीश्री १०८ श्रीराधागोविन्ददासजी गोस्वामी

श्रीचैतन्यकुटी, बेनीपट्टी

संस्मरण

श्री रसादायक गोस्वामी श्री १०८ श्रीराधागोविन्ददासजी की पुण्य-स्मृति

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवताः बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माऽहमेवच ॥

(श्रीभाग०)

जैसे सूर्य उदित होकर बाह्य वस्तुओं को देखने की शक्ति देते हैं, वैसे सन्त पुरुष प्रकट होकर अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। सन्त ही देवता एवं बन्धु-बान्धव हैं। सन्त ही आत्मा हैं और सन्त मेरे ही स्वरूप हैं। (भगवान् श्री कृष्ण) भक्त ही सन्त हैं। श्री अम्बरीष जी के प्रसङ्ग में श्री दुर्वाशा जी के समक्ष भक्त-पराधीन स्वयं भगवान् श्री-कृष्ण एक मात्र भक्त को ही साधु-सन्त बताये हैं और साधु भक्त का हृदय ही श्री भगवान् का नित्य विश्रामागार है, महल है। "भक्तेर हृदये कृष्णेर सतत विश्राम।" (श्री चै० च०)। भक्त सदा ही अपने प्रियतम भगवान् के हाथ में सर्वथा समर्पित रहकर भगवत्सेवा में ही सभी ऐन्द्रिय व्यापारों को लगा देते हैं और भगवत्सेवा का साम्राज्य फैलाना ही उसका परिणाम होता है। उनका सहवास जब जिसे प्राप्त होता है उसे ही वे दुःख-संकुल संसार समुद्र से उबार कर भगवत्प्रीति के चिदानन्दमय माधुर्य साम्राज्य में ले आते हैं।

एक ऐसे ही परमकरुण विश्वबन्धु भदवद्भक्त का आविर्भाव सन् १३४०, आषाढ़ शु० द्वि० के शुभ अवसर पर परम पुनीत मिथिला मध्य दरभंगा जिले के अन्तर्गत बेनीपट्टी गाँव के एक परमोच्च सुप्रतिष्ठित वत्सगोत्रीय मैथिल ब्राह्मण के सुवंश में हुआ था। आप दो भाई थे। दूसरे भाई आपसे २॥ वर्ष छोटे थे। जिनका शुभ नाम श्रीविपिन विहारीजी था। वे भी एक अपूर्व प्रतिभा-सम्पन्न अलौकिक महापुरुष थे। आप दोनों भाई एक ही समय में अपनी जगद्वन्द्या माताजी के साथ-साथ १६४० ई० फाल्गुन पूर्णिमा के सुअवसर पर परम पूज्य श्री १६०८ गुरुदेव के समक्ष दीक्षा ग्रहण किये। आपकी पूज्या श्रीमाता जी जब दीक्षा ले चुकीं एवं गोस्वामी श्रील राधागोविन्द दास जी भी अपनी अभिरुचि से आग्रहपूर्वक दीक्षा ग्रहण किये। जिस समय में आपकी अवस्था ५ वर्ष की थी। पुनः श्री विपिनविहारी जी भी पूज्यतम श्रीगुरुदेव के आगे उपस्थित होकर स्वयं कहने लगे कि हम भी मन्त्र कान में लेंगे। उस समय सत्संग में बहुत लोग बैठे हुए थे। सभी उठकर इस अबोध शिशु की उत्कंठा को देखकर चकित हो गये और श्रीमान् परम महाराज जी भी उनकी दिव्यता को परखकर दीक्षा दे दिये और कह दिये कि ये एक महापुरुष हैं। ये दोनों भाई बाल्य-क्रीड़ा के अवसर पर भी, केवल पूजा-आरती और कीर्त्तन किया करते थे। आप तो 'श्रीराधेश्याम' की रट लगाते थे और लघु भ्राता श्रीविपिन विहारीजी 'श्रीसीताराम' की रट लगाते थे। विपिनविहारी जी की अनन्यता ऐसी थी कि भूल से भी कभी उन्होंने राधेश्याम का नाम नहीं लिया। जिसे परखकर इनके श्रीमहाराज जी कहने लगे कि यह साधारण जीव नहीं है। यह श्रीहनुमन्तलाल जी का आवेशा-

वतार है। वस्तुतः, आपका प्राकट्य भी सूर्योदय समकाल में हुआ था। ये कभी जोरों की ठंढ में वदन पर कपड़ा नहीं रखते थे। ये सदा आवेश में रहा करते थे। जब-कभी एकान्त पाकर मन्दिर में घुस जाते थे और श्रीठाकुर जी को हाथ में ले डाँटने लगते थे कि "देखो अब तुम्हें हम पीटेंगे, तुम मुझे बहुत परेशान करते हो, खेल में मेरा सामान लेकर भाग जाते हो, अब तो पकड़ लिया, मारें ?" इस प्रकार ये अपनी अलौकिक भागवती लीला को दिखाकर कुछ ही दिनों के बाद, मन्त्र ग्रहण के डेढ़ महीने के बाद श्रीभगवान् की नित्य लीला में प्रवेश कर गुप्त हो गये। इसे सुनकर परम पूज्यपाद श्रीमान् परम महाराज जी कहने लगे कि, देखो तुम सभी को भगवत्-मार्ग पर लाकर ये चल दिये। विलक्षण महापुरुषों का ऐसा ही व्यापार होता है ।

अस्तु, आपके श्रीगुरुदेव संत-कुल-भूषण परम भक्तावतार भागवत-धर्म-ध्वजा-विस्तारक आचार्यप्रवर पूज्यपाद गोस्वामी श्री १००८ श्री राधिका दास जी महाराज हुए हैं। जो विशुद्ध वैदिकतात्पर्यमय निगूढ़तम गौड़ीय रागानुगीय भागवत-धर्म की मूर्त्ति के रूप में प्रकट होकर सद्गुरुनिष्ठा, साधु सेवा, निरपेक्षता, अनन्यता, कार्यदक्षता, दयालुता, वैराग्य आदि को अपने आचरण में अभूतपूर्व सर्व विलक्षण स्थान दिया और अपनी जीवनी को अनुपम ही रक्खा। "न तत्समोऽ-भ्यधिकश्च दृश्यते" इस श्रुति-वाक्य का उदाहरण बने हुए थे। वे कहा करते थे कि श्रीमन्महाप्रभु मिथिला में साक्षात् रूप से प्रवेश नहीं किये। मैं मिथिला ही के लिए आया हूँ। वह बात अब सत्य दीखती

है। उनके यहाँ अविच्छिन्नरूप से सत्संग की धारा प्रवाहित रहती थी। वे कहा करते थे कि मुझे जो कुछ प्राप्त है वह केवल श्रीगुरुसेवा और उनकी अनुपम कृपा तथा श्रीगीतगोविन्द की देन है।

आजानुलम्बित कनकावदात सत्संगैकजनक उन अनुपम अवतारी महापुरुष की अपार गुण-गरिमा का वर्णन यह तुच्छातितुच्छ दास कहाँ तक कर सकता है। उक्त महापुरुष की विभूति के प्रकाश स्वरूप महामहिम आचार्यप्रवर गोस्वामी श्रील राधागोविन्ददास जी की माता बनने का सौभाग्य जिसे प्राप्त हुआ वे भी उक्त सद्गुरुदेव की कृपापात्री बन कर सम्पूर्ण वैराग्यमय भजनपूर्ण जीवन व्यतीत कर रही हैं। जिनका गुरुप्रदत्त-वेषकालीन संस्कारात्मक नाम प्रातःस्मरणीया श्री यमुना दास जी हैं, और ऐसे सुपुत्र को पाकर आपके माननीय आदर्श पिता जी भी एक जागृतिपूर्ण दिव्य चेतनामयी ज्योति को लाभकर उक्त श्रीसद्गुरु कृपा-भाजन बनकर श्रीरूपानुग रसिकों के सुमधुर रसमय निःकैतव परमधर्म-स्वरूप, विशुद्ध भागवत-धर्म के परमाचार्य पद पर सुप्रतिष्ठित गोस्वामी *श्री १००८ श्री रासबिहारीदासजी महाराज* कलिहत अनन्त जीवों का उद्धार कर रहे हैं।

श्रीराधागोविन्ददास जी की दो बहनें हैं। बड़ी बहन श्रीमती ब्रह्मविद्यादेवी जी भी आपके सदुपदेश से अपने आदर्श पिता की शिष्या बन कर भजनमय जीवन व्यतीत कर रही हैं। जो शान्ति एवं गम्भीरता तथा प्रियता की मूर्त्ति हैं। दूसरी बहन भी उक्त सद्गुरुदेव के द्वारा त्यागपूर्ण दीक्षा ग्रहणकर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लेकर अनुपमा भागवती प्रतिभा से संपन्न परम भक्तिमती करुणहृदया *श्रीमती वैष्णवदासीजी*

हैं, जो विशुद्ध वैष्णव सिद्धान्त एवं निगमसार श्री श्रीमद्भागवत, रामायण आदि में सुनिपुणा हैं। ये प्रवचन की असाधारण प्रतिभा से सन्त-विभूति का प्रत्यक्ष परिचय देती हैं। इसीसे सिद्ध होता है कि श्रीवैष्णवाचार्य की कृपा से अनायास ही भागवती विद्या की सम्पूर्ण प्राप्ति होती है।

आपके सारासार-विवेकी अखिल जीव-वत्सल सन्तसेवा-निरत परम वन्दनीय प्रातःस्मरणीय पिताजी ने गोस्वामी श्री १००८ राधा गोविन्द दास जी को शैशवावस्था में ही जीव के परम श्रेय स्वरूप एकमात्र नित्य स्वार्थ भगवत्-पथ-प्रधान रसमय रागानुगीय गौड़ीय मार्ग की ओर अग्रसर करा दिया और वे अपने पितृकर्त्तव्य का आदर्श बने हैं। आप कौमार-अवस्था ही में श्रीसद्गुरुदेव की कृपा से सम्पूर्ण समर्पणात्मक वैराग्य वेष ग्रहण कर सदा ही सन्तों की कृपा-विभूति में पल्लवित होकर सत्संग एवं सद्गुरु-निष्ठामयी कृपा के आदर्श रूप में परिणत होकर किसी अन्य शिक्षक की अपेक्षा न रखकर अनायास ही एक अद्भुत सारदर्शी कवि एवं क्रियावान् वीतराग परम धर्मपरायण नित्यलीला-रस-भावनोन्मत्त के रूप में परिणत हुए और श्रीवैष्णवाचार्यसम्मत सर्वसिद्धान्त-मौलि निगमसार भागवत-सिद्धान्त का प्रचार कर कलि-कवलित भगवद्विमुख पामर जीवों को पावन करते हुए करुणावतार आर्य आचार्य-हृदय का पर्याप्त प्रकाश कर दिखाये। आपका समागम जिसे प्राप्त हुआ वे अवश्य ही परमोपादेय, परम धर्म एवं नित्य सम्बन्ध स्वरूप निखिल वेद-वेद्य सच्चिदानन्द अद्वयतत्त्व श्रीराधागोविन्द जी

के श्रीपाद-पद्मों से श्रद्धावान् होकर कृतार्थ हुए हैं। आपके निकट भय या चिन्ता का स्थान ही नहीं था। भय का कारण संसारारण्य का सम्बन्ध है, जिससे ये सदा कौमार अवस्था ही से विरक्त रहे। "कौमार आचरेत् प्राज्ञः धर्मान् भागवतानिह"—विवेकी मानव कौमार अवस्था से ही भागवत-धर्म का आचरण करें"—भागवताचार्य-प्रवर श्री प्रह्लाद जी की इस शिक्षा का उदाहरण ही आप हुए।

आप सदा ही अन्याभिलाष, ज्ञान, कर्म, अष्टाङ्गयोग, व्रत, तपस्यादि सभी प्रकार के आवरणों से रहित आनुकूल्यात्मक श्री-कृष्णानुशीलन-रूप श्रीरूपानुग प्रेमपरक भक्ति-योग के प्रचार ही में सम्पूर्ण जीवन लगाये हैं। आप कहा करते थे, "सर्वस्वार्थ श्रीहरिनाम-संकीर्त्तन एवं श्री हरि-कथा श्रवणरूपिणी भक्ति के पथ में चलनेवालों के लिये कभी भी अमङ्गल की संभावना नहीं है, और इसे छोड़कर यम-नियमादि चेष्टा से समाधि पर्यन्त अवस्था को पाकर तथा समस्त शास्त्रों में पारंगत होते हुए भी शरणागतिमूलक भक्ति के बिना वास्तविक मंगल होना सर्वथा असम्भव है।—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
भंजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाऽभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

(श्रीमा० १।५।१७)

प्रापञ्चिक नित्य नैमित्तिक कर्म वा वर्णाश्रम धर्म पालन की प्रवृत्ति को छोड़कर जो आत्मवृत्ति रूपिणी भक्ति में प्रविष्ट होकर भी यद्यपि कोई व्यक्ति प्रपञ्च में रहता हुआ अपराधवश भजन परिपक्वता होने के पहले ही भजनच्युत या मृत्युग्रस्त हो जाय, तथापि आंशिक रूप में स्वरूप एवं सम्बन्ध का ज्ञान हो जाने से अग्निकणा की तरह सेवा-वाञ्छा का अस्तित्व रहजाने के कारण उसका कोई अमंगल नहीं हो पाता है, और जो हरिभजन-विहीन है उसे केवल (कल्पित) स्वधर्म पालन या अन्य साधना से किसी भी तरह भय की विनिवृत्ति नहीं हो पाती है जो कोई केवल भक्ति का आश्रय लेकर चलता है उसका अमङ्गल किसी भी स्थिति में नहीं होता है—

वाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥

(श्रीभा० ११।१४।१८)

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।गीता।

आप कलि-विदग्ध जीवों को परम करुण प्रेमावतार श्री १००८-श्रीचैतन्यदेव का सर्वसुलभ, सर्वसंशोधक श्रीहरि-नाम संकीर्त्तन का पथ प्रदर्शन कर विशुद्ध वैदिक मर्यादा का संरक्षण एवं विश्वानुरक्ति (विश्व-प्रेम) का प्रचार करने में अपना सम्पूर्ण सक्रिय जीवन लगाये हैं। त्रिताप-विदग्ध, आचार-भ्रष्ट कलिहत जीवों को निगूढ़तम वैदिक तात्पर्य का बोध कराने में आप एक अनुपम ओजपूर्ण रीति को अपनाये हुए थे। आपके समक्ष बड़े-बड़े प्रतिभासम्पन्न तार्किक विद्वान् उपस्थित

होकर तर्कपूर्ण प्रश्न किया करते थे। किन्तु सहसा अकाट्य समाधान पाकर नतमस्तक हो जाते थे। आपके श्रीमुखगह्वर से भागवती-कथा-सुधा की सरिता अविराम प्रवाहित होती रही है, जिसमें अनेक जीवों के कुहक (कुतर्क) एवं कपटमय धर्म आदि बह गये हैं। सन्त एवं गुरु-कृपा की विभूति का प्रत्यक्ष परिचय आपकी वाक्यावलियों में अनायास प्राप्त हुआ है।

मुझे जबसे आपका कैशोरकालीन सहवास प्राप्त हुआ तभी से आपके साथ सत्सङ्ग, कथा-वार्त्ता आदि प्रति नियत रूप में होने लगा। इतनी घनिष्ठता, इतनी सहृदयता, इतनी प्रीति का दिग्दर्शन आपने कराया जिसका वर्णन असंभव है। आपका सहवास पाकर रोम-रोम खिल उठता था और अपनापन का अभूतपूर्व विस्तार हो जाता था। आप क्या थे! उनका क्या महत्त्व था! उसे वर्णन करना तो कठिन है। मुझसे जो आपने प्रेम किया, आनन्द दिया, अपना समझा, इतने महान् होने पर भी विनम्रता के साथ भेद-भाव-शून्य होकर एक ही आसन पर बैठ जाना, इतना ही नहीं बल्कि अपने से दूसरे को विशेष महत्त्व देना, मेरे-जैसे तुच्छ व्यक्ति को भी एक महान् समझना, आदि बातों की स्मृति आने पर हृदय भर आता है। वही समाज है, वही सत्संग एवं कथा-कीर्त्तन होता है और वही मैं हूँ, सभी प्राण-विहीन जान पड़ते हैं, मन खोया-खोया सा लगता है। किन्तु सन्त अमर होते हैं, क्योंकि उन्हें सत्य-धर्म, सत्य-तत्त्व, सत्य-प्रेम से एकता रहती है। हमें जो सन्तों की मृत्यु दिखाई देती है वह तो उनकी एक लीला मात्र है, और वह किसी विशेष आवश्यकता-

वश होती है भक्तों को अन्तर्मुख बनाने के लिए सन्तजन स्वयं भक्तों की प्रीति और ममता को समेट कर छिप जाते हैं। कभी-कभी स्वयं भगवान् भी भक्तों के बीच ऐसा आवरण (पर्दा) डाल देते हैं जिससे लोग उनकी उत्कंठा में व्याकुल होकर उनके निकट हो जायँ इसी उदात्त भाव में हम सभी के कर्णधार भी एक चिराग दिखाकर किसी कल्याण के उद्देश्य से ही आगे बढ़कर चिन्मय-धाम माधुर्यागार श्रीवृन्दावन की नित्यलीला में—विगत संवत् २०१७ मा० कात्तिक-शुक्ल भ्रातृद्वितीया, तदनुसार २३-१०-१९६० ई० (अक्टूबर), शनिवार की अर्द्धरात्रि में—प्रविष्ट होकर अपनी ऐहिक लीला संवरण किये। जिस समय उन अमलात्मा की आयु २७ वर्ष की थी।

इधर ता० २३-१०-६० को शनिवार की अर्द्धरात्रि में श्री१०८ श्रीराधागोविन्द दास जी का श्रीगोलोकधाम वास हुआ, उधर रविवार की सुबह को बृन्दावनधामस्थित श्री१०८ बाबा सुदामादास जी की कुटिया में एक परम विशुद्ध सन्त श्री १०८ बाबा शुकदेव दास जी—आप श्रीश्री बड़े महाराज जी के परम स्नेहियों में से एक हैं—आसन लगाकर भजन कर रहे थे। हठात् उन्होंने देखा कि श्रीराधागोविन्द दास जी खड़े हैं और दण्डवत् कर रहे हैं। बाबा शुकदेवदास जी ने पूछा—"आपका आसन कहाँ है ?"

आपने कहा—"गौघाट में बाबा तपसी जी के पास आसन है। अभी यमुना जी स्नान करने आया हूँ।" यह कहकर आप आगे बढ़े। आपके पीछे-पीछे बाबा श्रीशुकदेव दास जी भी साथ चलने लगे, तबतक ये अन्तर्धान हो गये।

पुनः दो दिनों के बाद, आपकी पूजनीया माताजी यहाँ श्रीवृन्दावन-धाम पहुँचीं। उन्होंने बाबा श्री शुकदेव दास जी से पूछा कि "राधा गोविन्द यहाँ आया है ?" बाबा श्रीशुकदेवदास जी ने कहा कि "हाँ, आये हैं, मुझसे भेंट हुई है और वे गौघाट में तपसी बाबा के पास आये हुए हैं।" यह सुनकर माताजी यमुना-स्नान को चलीं।

उसके बाद पटनास्थित श्री मुन्नीलाल जी ने बाबा श्रीशुकदेवदासजी से एकान्त में स्पष्ट शब्दों में कहा कि "श्रीराधागोविन्ददास जी का शरीर छूट चुका है। माताजी बहाने बनाकर यहाँ तक लाई गई हैं।" सुनते ही बाबा श्रीशुकदेव दास जी आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने कहा कि दो दिन पहले तो ये मुझसे यहीं बातचीत कर गये हैं !

फिर दो महीनों के बाद बाबा श्री शुकदेव दास जी पूर्ववत् भजन कर रहे थे। उन्हें लगा जैसे पीछे कोई खड़ा है। उन्होंने पीछे घूमकर देखा, कि श्रीराधागोविन्द दास जी खड़े हैं। आपके हाथ में कागज के ऊपर कंठी रखी हुई है और आप मुस्कुरा रहे हैं। उन्होंने पूछा—"अच्छे तो हो ?" इस पर पुनः मुस्कुरा कर आप अन्तर्धान हो गये। पास में बैठे हुए एक महात्मा भजन कर रहे थे। उन्होंने बाबा श्री शुकदेव दास जी से पूछा कि "आप किससे बातें कर रहे हैं ? यहाँ तो कोई है नहीं ?" इस पर वे मौन हो गये।

इस प्रकार की अभूतपूर्व घटनाएँ आपके जीवन-सम्बन्धी बहुत-सी हैं जो समय पाकर सेवा में प्रस्तुत की जायँगी।

आप आचार्यों के तात्त्विक ग्रन्थों को हिन्दी में प्रकाशित करने के लिये बहुधा प्रयत्नशील रहे और इसी उद्देश्य से श्री जीव-सेवा-संघ की संस्थापना भी किये। जिसकी नियमावली में विशुद्ध भागवत-धर्म के प्रचार के लिये अनेक बातें निहित हैं। आपकी अप्रतिहता-प्रेरणा के प्रभाव से ही यह सर्वसिद्धान्त-मौलि श्रीभागवत-सन्दर्भ का प्रथम सन्दर्भ—तत्त्वसन्दर्भ नामक अनुपम ग्रन्थ का सुप्रकाशन हुआ है। आशा है कि आपकी अप्रतिहता प्रेरणा के द्वारा आचार्यों के अन्य तात्त्विक ग्रन्थ भी प्रकाशित होंगे। *पूज्यपाद गोस्वामी श्री १०८ राधागोविन्द दास जी की प्रसन्नता के लिये उनकी सद्भावना की चिरस्मृति में श्रीजीव-सेवा-संघ-उक्त ग्रन्थ को समर्पण कर रहा है।*

विनीत

पं० श्रीमुनीन्द्र झा

श्रद्धांजलि



पूर्वोक्त कथन से उन अमालात्मा, विशुद्धात्मा, विश्ववन्धु महापुरुष श्रीगोस्वामी श्रीराधागोविन्द दास जी की प्रतिभा एवं चमत्कारपूर्ण जीवन-कालीन लीला से तो पाठकवृन्द परिचित ही हो गये होंगे। अब मैं मन्दातिमन्द अपने क्षुद्र हृदय के उद्‌गार को दो शब्दों में पं० श्री मुनीन्द्रझा जी एवं अन्य प्रेमियों के अनुरोध से व्यक्त करने का साहस करती हूँ। यों तो उनके शैशव (बाल्यकाल) से ले करके कैशोर पर्यन्त श्रील श्रीराधागोविन्द दास जी की सभ्यता एवं चमत्कारपूर्ण भूतपूर्व लीलाएँ; जब स्मरण ही नहीं बल्कि नेत्रों के समक्ष प्रकट होकर हृदय रूपी प्राङ्गण में नृत्य करने लगती हैं, तब गति स्तब्ध होकर लेखनी अवरुद्ध सी हो जाती है। परन्तु संत नित्य भगवत् सन्निकटवर्त्ती चिन्मय-वपुधारी होते हैं। जैसे वेदान्तवेद्य सच्चिदानन्दमय परात्पर ब्रह्म। क्योंकि भगवान् तथा भक्त में भी अभेदवाद कहा गया है—नारद भक्ति सूत्र ४१—तस्मिन् तज्जने भेदाभावात्। यह स्मरण होते ही साहस हो उठता है। आपने मानव को परम श्रेय अध्यात्म वैदिक परम्परागत प्रकृष्ट भागवत-धर्म के महान् तिमिर निरोध असमोर्ध दिव्यतीदिव्य विशुद्ध सार्वभौम भागवतधर्म रूपी प्रकाश प्रदान कर अज्ञान तथा मोहान्धकार से हटा अध्यात्म भारतीय भागवत धर्म की तरफ अग्रसर किया तथा जो कैतव धर्माग्रही बनकर

स्वरूपानुबन्धि भागवत-धर्म से पराङ्मुखी बने थे एवं चिर काल से माया-मरीचिका में सोये हुए हत-प्रभ जीव को मानवता प्रदान कर जागरूकता का यथार्थ अनुभव कराया, तथा कलिहत, कलिकषाय से संयुक्त कातर, मन्द, दीन, हीन प्राणी एवं विश्व के कल्याणार्थ असमोर्द्ध माधुर्य सम्पन्न कुतर्क ध्वंसक श्रीभगवन्नामामृत का अधिकारी बनाया तथा अनुपमेय श्रीनाम-सुधा का पान कराया तथा उसका प्रचार प्रत्येक जन-जन में ही उस महान् एवं सर्व्वोच्च को अपना कर स्थान-स्थान पर श्रीभगवन्नाम का तथा सर्वमोहापहारी मधुरातिमधुर भगवद्-विषयी कथा-सुधा की नियमित रूप व्यवस्था जो प्रत्यक्ष रूप में श्री मिथिला के कोने-कोने में तथा पटना आदि अन्य जगहों में भी अपनी विजय-पताका फहराती हुई असंख्य नर-नारी को भागवत भावों से प्रभावित कर रही है ।

आपके ही अप्रतिहत प्रभाव एवं आपके ही अकथनीय उद्योग से पाटलिपुत्र (पटना) में कलि-पावनावतार नाम-संकीर्त्तन जन्मदाता प्रेम-वन्यामृत वर्षण, शील-सौन्दर्य, माधुर्य, वात्सल्य सुधा-सागर अधिकारी वेधरहित श्री श्री १००८ श्रीशचीकुमार नदियाविहारी श्रीगौरांगदेव श्रीचैतन्य महाप्रभु जी का आविर्भाव (जन्मोत्सव) सन् १९५९ में अपूर्व प्रभावयुक्त से संस्थापन किया। जिस महामहोत्सव का स्वरूप उनके हृदय के उद्धत भाव के सहयोग से प्रत्येक वर्ष उन्नतिशील बनता जा रहा है। जो कुछ ही दिनों में लगता है कि अपना विराट स्वरूप धारण किये बिना नहीं रहेगा। अलौकिक प्रतिभासम्पन्न कार्य उन्होंने किया। उनकी यह अद्भुत कार्य-दक्षता एवं सुहृदयता का स्मरण करके हृदय एवं मन विक्षुब्ध हो उठता

है। पर उन महापुरुषों की अमरवाणी एवं उद्देश्य को सोचकर हृदय उनकी अचिन्त्यात्मा की शान्ति के लिए कार्य-परायण हो जाता है, तथा उनकी व्याप्तात्मा, अन्तस्थल में प्रविष्ट होकर शुभ कार्य की ओर अग्रसर करती हैं ।

आपने ही परम उच्चतम उद्देश्य को अंगीकार करके अखिल जीव समुदाय को आश्रय एवं निःश्रेयस्कल्याणदायक श्रीजीव-सेवा-संघ का निर्माण किया। आपके ही द्वारा इस संघ का जन्म हुआ। इस संघ की प्रथम बैठक दिनांक ६-३-५९ ई० को पटने में श्रीश्री गौरांग-महाप्रभु चरणानुरागी भक्तवर श्रीयुत बाबू रामचन्द्र प्रसाद अम्बष्ठ जी के निवास-स्थान पर हुई। संघ का नामकरण-संस्कार आप ही ने किया। नाम पड़ा "श्रीजीव-सेवा-संघ"। पाठक महानुभाव समझ सकते हैं कि आपने कितना सार्वभौम उद्देश्य को इंगित करके संघ का नाम रखा, किसी देश-विशेष, व्यक्तिविशेष और स्थानविशेष न रखकर समस्त जीवमात्र के प्रति आत्मभाव एवं उसके कल्याण को भावनात्मक एवं कृपात्मक राज्य में रखते हुए संघ का निर्माण किया। सेवा यों तो कायिक तथा आत्मिक होती है। कायिक सेवा तो देहात्म प्रधान जो बद्ध जीव हैं उन्हीं की होती है, क्योंकि उनकी बुद्धि इतने ही तक सीमित रहती है। यथार्थ सेवा तो आत्म-सेवा कही गयी है, क्योंकि आत्म-सेवा के बिना देहाध्यास का भी बोध नहीं हो सकता। अतः जितनी भी प्रिय कहलाने योग्य वस्तु हैं वह आत्म-सत्ता को लेकर ही। "श्रुति-आत्म वस्तु कामाय सर्वं प्रिये भवति।" अतः आत्मसेवा ही यथार्थ में जीवमात्र की सेवा है। आत्मसर्वस्व, प्राणप्रिय श्रीश्यामसुन्दर की सेवा करने के

लिये प्रेरित करना तथा भागवत चरणानुरागी बनाना ही "श्रीजीव-सेवा-संघ" का मुख्य एवं विराट उद्देश्य है।

ऋग्वेद (८।१०३।१०) प्रेष्ठ मु प्रियाणं स्तुहि। अतः सम्यक् प्रकारेण परम प्रेष्ठ श्रीश्यामसुन्दर ही सेवनीय एवं वांछनीय हैं। एतावता सिद्ध हुआ कि "श्रीजीव-सेवा-संघ" का प्रमुख उद्देश्य, जो श्रीश्रीमन्महाप्रभुचैतन्यदेव का आदेश है उसीको रक्खा गया है :—

"नामे रुचि जीवेर दया साधुदेर सेवन, एते पारे धर्म नाहि सुनो सनातन"।

जीव को त्रिताप से हटाकर चिर स्थायी आनन्द के प्रवाह में अवगाहन करवाना ही यथार्थ में दया शब्द का पूर्ण विकाश है। अतः अब मैं सभी कल्याणकामी महानुभावों से अनुरोध करती हूँ कि उनके उपदिष्ट तथा क्रियात्मक रूप में लाये हुए सन्मार्ग पर आरूढ़ होकर उनके शुभ करकमलों द्वारा स्थापित अखिल-जीव-कल्याणार्थ "श्रीजीव-सेवा-संघ" तथा "श्रीभगवन्नाम संकीर्त्तन संघ" के अन्तरगत जो भी कार्यक्रम संचालित हो चुके हैं, अन्तरिक्ष-रूप में जो भावनायें कार्य रूप में परिणत होने से रह गयी हैं, उनको हमसब अपने ऊपर उत्तरदायित्व का भागी समझकर अपने कायिक, वाचिक, मानसिक श्रम दान से तथा आर्थिक सम्पत्ति लगा-कर हृदय के उल्लास के साथ इस गुरुतर कार्य को दिनानुदिन उन्नतशील बनावें। ताकि श्रीप्रिया-प्रियतम की नित्य लीलामाधुरी में प्रविष्ट मुक्तात्मा को चिर शान्ति हो कि मेरे द्वारा स्थापित किये गुरुतर कार्य सम्पादित हो रहे हैं। उनकी मनःकामना पूर्त्ति के लिए संचार उन्हीं महानुभावों से होता रहेगा। साथ ही श्रील गोस्वामी

श्रीराधागोविन्द दास जी हम सबों को उक्त गुरुतर कार्यों के लिये उत्तरदायित्व बनाकर छोड़ गये हैं। क्योंकि हम सबों के समक्ष जो उन्होंने कल्याण-पथ का प्रदर्शन किया है उस ऋण से हमलोग सदा के लिए ऋणी हैं। उनके श्रमदान का बदला हमलोग सिवाय दीनतापूर्वक दासता स्वीकार के बिना कैसे चुका सकते हैं। क्योंकि हम जैसे मायिक जीवों के लिये उन्होंने अपना अमूल्य भजनोन्मुखी समय लगाकर श्रेय मार्गानुगामी बनाकर श्री भगवद्धाम का चिन्मय साम्राज्य प्रदान किया। अतः हम सब इसके लिए जन्म-जन्म आभारी रहते हुए उनके निकुंजरसास्वादन मुक्तात्मा के प्रति श्रद्धाञ्जलि समर्पण करते हुए उनसे महान काम के लिए प्रार्थी हैं कि जिसमें उनके प्रदर्शित मार्ग पर हम सबों को वे आरूढ़ रखें एवं दिनानुदिन औरों को भी उक्त पथानुगामी बनावें तथा उनके बताये हुए कार्य्य को उन्नतशील करते रहें। अब मैं अपनी तुच्छ लेखनी से कहाँ तक उस वैभवशाली का कथन करूँ। आगे समयानुकूल सविस्तार उनकी जीवनी प्रकाशित की जायगी। इनकी सद्भावना से यह अनुपम ग्रंथ प्रकाशित होने जा रहा है। मैं आशा करती हूँ कि हमारे पाठक तथा पाठिकायें उत्तम ग्रंथ को अपनाकर अपने श्रेयस्कल्याण को अपनाये बिना नहीं रहेंगे। आशा करती हूँ, हमारा संघ आगे भी आपकी सेवा में महद् आचार्यगणों के उपदेश को प्रकाशन कर आपलोगों की सेवा में उपलब्ध करेगा। अपनी गल्तियों के लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

आप सबोंकी विनीता

वैष्णव दासी



श्रीकृष्णो जयति ।

षट्सन्दर्भनामक-श्रीभागवत-सन्दर्भे

प्रथमः

तत्त्वसन्दर्भः

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥१॥
(भा० ११. ५. ३२) ।

अथ तत्त्वसन्दर्भटीका

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणविरचिता ।

श्रीकृष्णो जयति ।

भक्त्याभासेनापि तोषं दधाने धर्म्माध्यक्षे विश्वनिस्तारिनाम्नि ।
नित्यानन्दाद्वैतचैतन्यरूपे तत्त्वे तस्मिन्नित्यमास्तां रतिर्नः ॥
मायावादं यस्तमःस्तोममुच्चैर्नाशं निन्ये वेदवागंशुजालैः ।
भक्तिर्विष्णोर्दर्शिता येन लोके जीयात् सोऽयं भानुरानन्दतीर्थः ॥

गोविन्दाभिधमिन्दिराश्रितपदं हस्तस्थरत्नादिवत्,
तत्त्वं तत्त्वविदुत्तमौ क्षितितले यौ दर्शयाञ्चक्रतुः ।
मायावादमहान्धकारपटलीसत्पुष्पवन्तौ सदा

तौ श्रीरूपसनातनौ विरचिताश्चर्यौ सुवर्यौ स्तुमः ॥

यः सांख्यपङ्केन कुतर्कपांशुना विवर्त्तगर्त्तेन च लुप्तदीधितिम् ।
शुद्धं व्यधाद् वाक्सुधया महेश्वरं कृष्णं स जीवः प्रभुरस्तु नो गतिः ॥

आलस्यादप्रवृत्तिः स्यात् पुंसां यद्ग्रन्थविस्तरे ।
अतोऽत्र गूढे सन्दर्भे टिप्पन्यल्पा प्रकाश्यते ॥
श्रीमज्जीवेन ये पाठाः सन्दर्भेऽस्मिन् परिष्कृताः ।
व्याख्यायन्ते त एवामी नान्ये ये तेन हेलिताः ॥

श्रीबादरायणो भगवान् व्यासो ब्रह्मसूत्राणि प्रकाश्य तद्भाष्यभूतं श्रीभागवतमाविर्भाव्य शुकं तदध्यापितवान् । तदर्थं निर्णेतुकामः श्रीजीवः प्रत्यूहकुलाचलकुलिशं वाञ्छितपीयूषवलाहकं स्वेष्टवस्तुनिर्देशं मङ्गलमाचरति ।

कृष्णेति । निमिनृपतिना पृष्टः करभाजनो योगी सत्यादियुगावतारानुक्त्वाथ "कलावपि तथा शृणु"ति तमवधाप्याह—कृष्णवर्णमिति । सुमेधसो जनाः कलावपि हरिं भजन्ति । कैरित्याह—सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यज्ञै रच्चर्चनैरिति । कीदृशं तमित्याह—कृष्णो वर्णो रूपं यस्यान्तरिति शेषः । त्विषा—कान्त्या त्वकृष्णं—

शुल्को रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ।

इति गर्गोक्तिपारिशेष्याद्विद्युद्गौरमित्यर्थः । अङ्गे—नित्यानन्दाद्वैतौ, उपाङ्गानि—श्रीवासादयः, अस्त्राणि—अविद्याच्छेतृत्वाद्भगवन्नामानि, पार्षदा—गदाधरगोविन्दादयस्तैः सहितमिति महाबलित्वं व्यज्यते । गर्गवाक्ये "पीत" इति प्राचीनतदपेक्षया । अयमवतारः श्वेतबराहकल्पगताष्टाविंशवैवस्वतमन्वन्तरीयकलौ बोध्यः । तत्रत्ये श्रीचैतन्य एवोक्तधर्म्मदर्शनात् । अन्येषु कलिषु क्वचित् श्यामत्वेन, क्वचित् शुकपत्राभत्वेन

व्यक्तेरुक्तेः । "छन्नः कलौ यदभव" इति, "शक्लो रक्तस्तथा पीत" "इति, "कलावपि तथा शृणि"ति च । ये विमृशन्ति ते सुमेधसः । ....

छन्नत्वञ्च प्रेयसी त्विषावृतत्वं बोध्यम । (अङ्काः पत्राङ्कतोऽत्रान्ये टिप्पनीक्रमबोधकाः । द्विविन्दवस्ते विज्ञेया विषयाङ्कास्त्वविन्दवः । अत्र ग्रन्थे स्कन्धाध्यायसूचका युग्माङ्का ग्रन्थकृतां सन्ति । तेभ्योऽन्ये ये टिप्पनीक्रमबोधायास्माभिः कल्पितास्ते द्विविन्दुमस्तकाः । विषयवाक्येभ्यः परे येऽङ्कास्ते त्वविन्दुमस्तका बोध्याः ॥१॥

अथ हिन्दीटीका

श्रीराधारमणः शरणम् ।

जयति मनोरमरूपं, सहजोन्मादमत्तं रसराजेन ।
गौरायितमपि कृष्णं, भूमौ प्रेमपुरुषोत्तमस्य ॥

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी के नाम में "कृष्ण" अक्षर वर्त्तमान हैं, अतएव कृष्णवर्ण युक्त श्रीगौरसुन्दर स्वयं अपनी गौर-छटा से अकृष्ण हैं। आपके श्रीनित्यानन्द प्रभुजी एवं श्रीअद्वैत प्रभुजी अङ्ग तथा श्रीवासजी आदि उपाङ्ग हैं। भगवन्नाम रूपी अस्त्र तथा श्रीगोविन्द, श्रीगदाधरजी प्रभृति पार्षदों के सहित श्रीशचीनन्दन भगवान् का कलियुग में सद्-बुद्धि-सम्पन्न मनुष्य सङ्कीर्त्तन-प्रधान यज्ञों द्वारा भजन करते हैं ॥१॥

अन्तः कृष्णं बहिर्गौरं दर्शिताङ्गादिवैभवम् ।
कलौ सङ्कीर्त्तनाद्यैः स्मः कृष्णचैतन्यमाश्रिताः ॥२॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

कृष्णवर्णपद्यव्याख्याव्याजेन तदर्थमाश्रयति—अन्तरिति स्फुटार्थः ॥२॥

हिन्दीटीका

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी ने गौर स्वरूप को प्रकट एवं कृष्ण स्वरूप को अप्रकट कर अङ्गादि वैभव का प्रदर्शन किया है, अतः सङ्कीर्त्तनादि यज्ञों के साथ हम उनका आश्रय करते हैं ॥२॥

जयतां मथुराभूमौ श्रीलरूपसनातनौ ।
यौ विलेखयतस्तत्त्वं ज्ञापकौ पुस्तिकामिमाम् ॥३॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

अथाशीर्नमस्काररूपं मङ्गलमाचरति—जयतामिति । श्रीलौ—ज्ञान-वैराग्यतपःसम्पत्तिमन्तौ रूपसनातनौ—मे गुरुपरमगुरू जयतां—निजोत्कर्षं प्रकटयताम् । मथुराभूमाविति—तत्र तयोरध्यक्षता व्यज्यते । तयोर्जयोऽस्त्वित्याशास्यते । जयतिरत्र—तदितरसर्व्वसद्वृन्दोत्कर्षवचनः । तदुत्कर्षाश्रयत्वात्तयोस्तत्सर्व्वनमस्यत्वमाक्षिप्यते । तत् सर्व्वान्तःपातित्वात् स्वस्य तौ नमस्याविति च व्यज्यते । तौ कीदृशावित्याह—याविमां सन्दर्भाख्यां पुस्तिकां विलेखयतः, तस्या लिखने मां प्रवर्त्तयतः । बुद्धौ सिद्धत्वात् इमाम् इत्युक्तिः । तत्त्वं ज्ञापकौ—

तत्त्वं वाद्यप्रभेदे स्यात् स्वरूपे परमात्मनि ।

इति विश्वकोषात् परेशं सपरिकरं ज्ञापयिष्यन्तावित्यर्थः । कर्त्तरि भविष्यति ण्युल् षष्ठी निषेधस्तु "णाकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः" इति सूत्रात् ॥३॥

हिन्दीटीका

ज्ञान, वैराग्य तथा तपश्चर्या से सम्पत्तिशाली श्रीसनातन गोस्वामिपाद एवं श्रीरूपगोस्वामि-चरण मथुरा-भूमि में अधिकाधिक विख्यात हैं। परात्परतत्त्व श्रीकृष्ण का परिकर के साथ ज्ञान करानेवाले उन महानुभावों ने इस ग्रन्थ को मेरे (श्रीजीवगोस्वामिपाद) द्वारा लिपिबद्ध कराया है ॥३॥

कोऽपि तद्‌बान्धवो भट्टो दक्षिणद्विजवंशजः ।
विविच्य व्यलिखद्‌ग्रन्थं लिखिताद्‌वृद्धवैष्णवैः ॥४॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

ग्रन्थस्य पुरातनत्वं स्वपरिष्कृतत्वञ्चाह—कोऽपीति। तद्‌बान्धवः—तयो रूपसनातनयोर्बन्धुः—गोपालभट्ट इत्यर्थः। वृद्धवैष्णवैः—श्रीमध्वादिभिर्लिखिताद् ग्रन्थात् तं विविच्य—विचार्य्य सारं गृहीत्वा ग्रन्थमिमं व्यलिखत् ॥४॥

हिन्दीटीका

दाक्षिणात्य ब्राह्मण-वंश में प्रकट श्रीरूप-सनातन-गोस्वामिपाद के बन्धु श्रीगोपालभट्ट गोस्वामिचरण ने श्रीमन्मध्वाचार्य पाद प्रभृति वैष्णवों के ग्रन्थ से सार को ग्रहणकर इस सन्दर्भ ग्रन्थ को विशेषता के साथ लिखा ॥४॥

तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्तव्युत्क्रान्तखण्डितम् ।
पर्य्यालोच्याथ पर्य्यायं कृत्वा लिखति जीवकः ॥५॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

तस्य भट्टस्य आद्यं—पुरातनं ग्रन्थनालेखं पर्य्यालोच्य, जीवको—मल्लक्षणः पर्य्यायं कृत्वा—क्रमं निबध्य लिखति। "ग्रन्थ-सन्दर्भे", चौरादिकः, ततो "ण्यासश्रन्थे"ति कर्म्मणि युच्, ग्रन्थना—ग्रन्थस्तस्य लेखं—लिखनं, भावे घञ्। तं लेखं कीदृशमित्याह—क्रान्तं—क्रमेण स्थितं, व्युत्क्रान्तं—व्युत्क्रमेण स्थितं, खण्डितं—छिन्नमिति स्वश्रमस्य सार्थक्यम् ॥५॥

हिन्दीटीका

श्रीगोपालभट्ट गोस्वामिपाद का प्रथम लिखित सन्दर्भ कहीं पर क्रमबद्ध था, कहीं पर वह लेख असम्बद्ध भी था। एवं कहीं छिन्न-भिन्न भी लेख था, उस सन्दर्भ को क्रमबद्ध करके श्रीजीव गोस्वामी लिखते हैं ॥५॥

यः श्रीकृष्णपदाम्भोजभजनैकाभिलाषवान् ।
तेनैव दृश्यतामेतदन्यस्मै शपथोऽर्पितः ॥६॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

ग्रन्थस्य रहस्यत्वमाह—यः श्रीति। कृष्णपारतम्येऽन्येनानादृते तस्यामङ्गलं स्यादिति तन्मङ्गलायैतत्, न तु ग्रन्थावद्यभयात्। तस्य सुव्युत्पन्नैर्निरवद्यत्वेन परीक्षितत्वात् ॥६॥

हिन्दीटीका

किन्तु, जो एकमात्र श्रीकृष्ण के चरण-कमल के भजन की अभिलाषा रखते हैं, वे ही इस ग्रन्थ का अवलोकन करें। इतर अर्थात् अभक्त मनुष्यों के लिये इस ग्रन्थ को नहीं देखना चाहिये, क्योंकि उनके लिये शपथ दी गई है ॥६॥

अथ नत्वा मन्त्रगुरून् गुरून् भागवतार्थदान् ।
श्रीभागवतसन्दर्भं सन्दर्भं वश्मि लेखितुम् ।।७।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

अथेति ।—गूढार्थस्य प्रकाशश्च सारोक्तिः श्रेष्ठता तथा ।
नानार्थवत्त्वं वेद्यत्वं सन्दर्भः कथ्यते बुधैः ।।

इत्यभियुक्तोक्तलक्षणं सन्दर्भं लेखितुं वश्मि—वाञ्छामि । श्रीभागवतं संदभ्यते ग्रथ्यतेऽत्रेति "हलश्च" इत्यधिकरणे घञ् ।।७।।

हिन्दीटीका

श्रीमद्भागवत के अर्थ प्रदान करनेवाले तथा मन्त्रप्रदान करनेवाले गुरुदेवों को प्रणामकर श्रीभागवत-सन्दर्भ नामक सन्दर्भ को लिखना चाहता हूँ ।।७।।

यस्य ब्रह्मेति संज्ञां क्वचिदपि निगमे याति चिन्मात्रसत्ता-
प्यंशो यस्यांशकैः स्वैर्विभवति वशयन्नेव मायां पुमांश्च ।
एकं यस्यैव रूपं विलसति परमव्योम्नि नारायणाख्यं,
स श्रीकृष्णोविधत्तां स्वयमिह भगवान् प्रेम तत्पादभाजाम् ।।८।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

अथ श्रोतृरुच्युत्पत्तये ग्रन्थस्य विषयादीननुबन्धान् संक्षेपेण तावदाह —यस्येति । स स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण इह जगति तत्पादभाजां— तच्चरणपद्मसेविनां स्वविषयकं प्रेम विधत्तां—अर्पयतु । स कः ?

इत्याह,—यस्य स्वरूपानुबन्ध्याकृतिगुणविभूतिविशिष्टस्यैव श्रीकृष्णस्य चिन्मात्रसत्ता—अनभिव्यक्ततत्तद्विशेषा ज्ञानरूपा विद्यमानता क्वचिदपि निगमे—कस्मिंश्चित् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मास्तीत्येवोपलब्धः" इत्यादि रूपे श्रुतिखण्डे ब्रह्मेति संज्ञां याति, तादृशतया चिन्तयतां तथा प्रतीतिमासीदतीत्यर्थः। भक्तिभावितमनसां तु व्यञ्जिततत्तद्विशेषा सैव पुरुषत्वेन प्रतीता भवतीति बोध्यम्, सत्यं ज्ञानमित्युपक्रान्तस्यैवानन्दमय-पुरुषत्वेन निरूपणात्। अत एवमुक्तं जितन्ते स्तोत्रे;—

न ते रूपं न चाकारो नायुधानि न चास्पदम्।
तथापि पुरुषाकारो भक्तानां त्वं प्रकाशसे ॥इति॥*

न चैवं प्राचीनाङ्गीकृतमितिवाच्यम्, उक्तरीत्यां तस्याप्यनभीष्टत्वा-भावात्। यस्य कृष्णस्यांशः पुमान् मायां वशयन्नेव स्वैरंशकैर्विभवति। कारणार्णवशायी सहस्रशीर्षा पुरुषः सङ्कर्षणः कृष्णांशः प्रकृतेर्भर्त्ता, तां वशे स्थापयन्नेव स्ववीक्षणलुब्धया तयाण्डानि सृष्ट्वा, तेषां गर्भेष्वम्बु-भिरर्द्धपूर्णेषु सहस्रशीर्षा प्रद्युम्नः सन्, स्वैरंशकैर्मत्स्यादिभिर्विभवति, विभवसंज्ञकान् लीलावतारान् प्रकटयतीत्यर्थः। यस्यैव कृष्णस्य नारायणा-ख्यमेकं मुख्यं रूपम् आवरणाष्टकाद्बहिःष्ठे परमव्योम्नि विलसति, स नारायणो यस्य विलास इत्यर्थः। अनन्यापेक्षितरूपः स्वयं भगवान्, प्रायस्तत्समगुणविभूतिराकृत्यादिभिरन्यादृक् तु विलास इति सर्वमेतच्चतुर्थ-सन्दर्भे विस्फुटी भविष्यद्वीक्षणीयम् ॥८॥

हिन्दीटीका

जिन परात्परतत्त्व श्रीकृष्ण की केवल चित्स्वरूपा सत्ता वेद में 'ब्रह्म' नाम से सम्बोधित की गई है; एवं जो श्रीकृष्ण के अंशभूत कारणार्णव-

*पंक्त्यावल्यां संशयोऽस्ति।

शायी अपने अंश श्रीमत्स्यादि अवतारों के साथ माया को अपने वशीभूतकर लीलावतारों को प्रकट करते हैं। जिनका एक स्वरूप परमव्योम में नारायण स्वरूप से विराजमान है। वे भगवान् श्रीकृष्ण इस संसार में अपने चरण-कमल-सेवी भक्तों को अपना प्रेम अर्पण करें ॥८॥

अथैव सूचितानां श्रीकृष्णतद्वाच्यवाचकता-लक्षणसम्बन्ध-तद्भजनलक्षणविधेय-सपर्य्यायाभिधेय-तत्प्रेमलक्षणप्रयोजनाख्यानामर्थानां निर्णयाय तावत् प्रमाणं निर्णीयते। तत्र पुरुषस्य भ्रमादिदोषचतुष्टयदुष्टत्वात् सुतरामलौकिकाचिन्त्यस्वभाव-वस्तु-स्पर्शायोग्यत्वाच्च तत्प्रत्यक्षादीन्यपि सदोषाणि ॥९॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

अथैवमिति। सूचितानां व्यञ्जीतानां चतुर्णामित्यर्थः। श्रीकृष्णश्च अस्य ग्रन्थस्य विषयः। तद्वाच्यवाचकलक्षणश्च सम्बन्धः। तद्भजनं तच्छ्रवणकीर्त्तनादि, तल्लक्षणं यद्विधेयं, तत्सपर्य्यायं यदभिधेयं, तच्च।* तत्प्रेमलक्षणं प्रयोजनं च पुरुषार्थस्तदाख्यानाम्। एकवाच्यवाचकत्वं पर्य्यायत्वम्। समानः पर्य्यायोऽस्येति सपर्य्यायः। समानार्थकसहशब्देन समासादस्वपदविग्रहो बहुव्रीहिः। "वोपसर्ज्जनस्ये"ति सूत्रात् सहस्य सादेशः।

सहशब्दस्तु साकल्ययौगपद्यसमृद्धिषु।
सादृश्ये विद्यमाने च सम्बन्धे च सहस्मृतम्॥ इति श्रीधरः॥

तत्रेति। पुरुषस्य व्यावहारिकस्य व्युत्पन्नस्यापि भ्रमादि दोषग्रस्तत्वात्तादृक्पारमार्थिकवस्तुस्पर्शानर्हत्वाच्च तत्प्रत्यक्षादीनि च सदोषाणीति

* तल्लक्षणाभिधेयम्। तत्र विधेयसपर्य्यायम्।—इति पाठान्तरम्।

योऽयम्।' भ्रमः प्रमादो विप्रलिप्सा करणापाटवञ्चेति जीवे चत्वारो दोषाः। तेष्वतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रमः, येन स्थाणौ पुरुषबुद्धिः। अनवधानतान्यचित्ततालक्षणः प्रमादः, येनान्तिके गीयमानं गानं न गृह्यते। वञ्चनेच्छा—विप्रलिप्सा, यथा शिष्ये स्वज्ञातोऽप्यर्थो न प्रकाश्यते। इन्द्रिय-मान्द्यं—करणापाटवम्, येन दत्तमनसापि यथावत् वस्तु न परिचीयते। एते प्रमातृजीवदोषाः प्रमाणेषु सञ्चरन्ति। तेषु भ्रमादित्रयं प्रत्यक्षे, तन्मूलकेऽनुमाने च; विप्रलिप्सा तु शब्दे इति बोध्यम्। प्रत्यक्षादीन्यष्टौ भवन्ति प्रमाणानि। तत्रार्थ-सन्निकृष्टं चक्षुरादीन्द्रियम्—प्रत्यक्षम्। अनुमितिकरणं—अनुमानम्, अग्न्यादि ज्ञानं—अनुमितिः, तत्करणं—धूमादि-ज्ञानम्। आप्तवाक्यं—शब्दः (तर्कसंग्रह-शब्द-प० पृ० ३६)। उपमितिकरणं—उपमानं, गो-सदृशो गवय—इत्यादौ संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध-ज्ञानम्— उपमितिः (तर्कसंग्रह उपमान-प० पृ० ३८), तत्करणं—सादृश्य-ज्ञानम्। 'असिद्ध्यदर्थदृष्ट्यासाधकान्यार्थ-कल्पनं—अर्थापत्तिः, यथा—दिवाऽभुञ्जाने पीनत्वं—रात्रि-भोजनं कल्पयित्वा साध्यते। अभाव-ग्राहिका—अनुपलब्धिः, भूतले घटानुपलब्ध्या यथा घटाभावो गृह्यते। सहस्रे शतं सम्भवेदिति बुद्धौ सम्भावना—सम्भवः। अज्ञातवक्तृकं परम्पराप्रसिद्धं—ऐतिह्यं, यथेह तरौ यक्षोऽस्ति ;—इत्येवमष्टौ ॥९॥

हिन्दीटीका

इस प्रकार सूचित किये गये श्रीकृष्ण इस ग्रन्थ के विषय हैं। इसमें वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। श्रीकृष्ण का भजन, श्रवण और कीर्त्तनादि विधेय एवं अभिधेय है। श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम प्रयोजन है। इन सब आख्यानों और अर्थों के निर्णय के लिये सर्वप्रथम प्रमाण

का निर्णय किया जाता है। क्योंकि व्यावहारिक पुरुष को परम चतुर होने पर भी भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव अर्थात् इन्द्रियों की मन्दता—ये चार दोष दूषित करते हैं। अतएव पारमार्थिक वस्तु को स्पर्श करने के लिये पुरुष अयोग्य होने के कारण उसके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य ये आठ प्रमाण भी दोषशून्य नहीं हैं ॥९॥

ततस्तानि न प्रमाणानीत्यनादिसिद्ध-सर्वपुरुषपरम्परासु सर्व-लौकिकालौकिकज्ञान-निदानत्वादप्राकृतवचनलक्षणो वेद एवास्माकं सर्वातीत-सर्वाश्रय-सर्वाचिन्त्याश्चर्य्यस्वभावं वस्तु विविदिषतां प्रमाणम् ॥१०॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

ततस्तानि न प्रमाणानीति। ततः—भ्रमादिदोषयोगात्, तानि—प्रत्यक्षादीनि परमार्थप्रमा-करणानि न भवन्ति। माया-मुण्डावलोके 'तस्यैवेदं मुण्डम्' इत्यत्र प्रत्यक्षं व्यभिचारि। वृष्ट्या तत्काल-निर्वापित-वह्नौ चिरं धूमप्रोद्गारिणि गिरौ 'वह्निमान् धूमात्' इत्यनु-मानञ्च व्यभिचारि दृष्टम्। आप्तवाक्यञ्च तथा, एकेनाप्तेन मुनिना समर्थितस्यापरेण तादृशेन दूषितत्वात्। अत उक्तम्;—"नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्" इति। एवं मुख्यानामेषां सदोषत्वात् तदुपजीविना-मुपमानादीनां तथात्वं सुसिद्धमेव। किञ्चाप्तवाक्यं लौकिकार्थग्रहे प्रमाणमेव, यथा—'हिमाद्रौ हिमम्' इत्यादौ। तदुभयनिरपेक्षञ्च तत्,—'दशमस्त्वमसि' इत्यादौ। तदुभयागम्ये साधकतमञ्च तत्,—ग्रहाणां

राशिषु सञ्चारे यथा। किञ्चाप्त-वाक्येनानुगृहीतं तदुभयं प्रमापकम्। दृष्टचरमाया मुण्डकेन पुंसा सत्येऽप्यविश्वस्ते तस्यैवेदं मुण्डमिति नभो वाण्यानुगृहीतं प्रत्यक्षं यथा। 'अरे शीतार्त्ताः पान्थाः ! मास्मिन्नग्निं सम्भावयत, वृष्ट्या निर्वाणोऽत्र स दृष्टः ❀ किन्त्वमुष्मिन् धूमोद्गारिणि गिरौ सोऽस्ति' इत्याप्तवाक्येनानुगृहीतमनुमानं च यथेति। तदेवं प्रत्यक्षानुमानशब्दाः प्रमाणानीत्याह मनुः ;—

"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्म्मशुद्धिमपीप्सता ॥इति॥

[मनु० १२. १०५]।

एवमस्मद्वृद्धाश्च। सर्वपरम्परासु—ब्रह्मोत्पन्नेषु देव-मानवादिषु सर्वेषु वंशेषु।

"परम्परा परीपाट्यां सन्तानेऽपि बधे क्वचित्।" इति विश्वः। लौकिकज्ञानं—कर्म्मविद्या, अलौकिकज्ञानं—ब्रह्मविद्या। अप्राकृतेति— "वाचा विरूपनित्यया" इति मन्त्रवर्णात्,

"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥"

इति स्मरणाच्च। स्फुटमन्यत्॥१०॥

हिन्दीटीका

अतः भ्रमादि दोष से युक्त वे प्रत्यक्षादि प्रमाण पारमार्थिक ज्ञान के कारण नहीं हो सकते; तो अनादि सिद्ध सकल पुरुष, देव मानवादि वंश में कर्मविद्या तथा ब्रह्मविद्या का एकमात्र कारण अप्राकृत वचन

* "दृष्ट" इति पाठान्तरम्।

सर्वातीत, सर्वाश्रय, सर्वाचिन्त्य, आश्चर्यस्वभाव वस्तु जिज्ञासु हमलोगों के लिये वेद ही प्रमाण हैं ॥१०॥

तच्चानुमतं, "तर्काप्रतिष्ठानात्" [ब्र०, सू०, २. ११.] इत्यादौ "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" [म०, भा०, भा०, प०, ५. २२.] इत्यादौ, "शास्त्रयोनित्वात्" [ब्र०, सू०, १. १. ३.] इत्यादौ, "श्रुतेस्तु शब्द-मूलत्वात्" [ब्र०, सू०, २. १. २७.] इत्यादौ, पितृ-देव-मनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर ! श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्य-साधनयोरपि" [भा०, ११. २०. ४.] इत्यादौ ॥११॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

ननु कोऽयमाग्रहो वेद एवास्माकं प्रमाणम्? इति चेत्तत्राह,—तच्चानुमतमिति, श्रीव्यासाद्यैरितिशेषः। तद्वाक्यान्याह,—तर्केत्यादीनि साध्य-साधनयोरपीत्यन्तानि। तर्केति—ब्रह्मसूत्र-खण्डः। तस्यार्थः ;—परमार्थनिर्णयस्तर्केण न भवति, पुरुषबुद्धि-वैविध्येन तस्य नष्टप्रतिष्ठत्वात्, एवमाह श्रुतिः—

"नैषातर्केणमतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ !।"

[कठ० १. २. ६.] इति।

व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः ;—'यद्ययं निर्वह्निः स्यात्तदा निर्धूमः स्यात्' इत्येवं रूपः, स च व्याप्ति-शङ्कां निरस्यन्ननुमानाङ्गं भवेदतस्तर्केणा-नुमानं ग्राह्यमिति। "अचिन्त्याः" इत्युद्यमपर्वणि दृष्टम्। "शास्त्रे"-

ति ब्रह्मसूत्रम् । 'न' इत्याकृष्यम् । 'उपास्यो हरिरनुमानेनोपनिषदा वा वेद्यः' इति सन्देहे, "मन्तव्यः" [बृ. आ. ४. ४. ५] इति श्रुतेरनुमानेन स वेद्य इति प्राप्ते, नानुमानेन वेद्यो हरिः । कुतः ? शास्त्रम्—उपनिषद्, योनिः—वेदन-हेतुर्यस्य तत्त्वात् । "औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" [बृ. आ., ३. ६. २६] इत्याद्या हि श्रुतिः । "श्रुतेस्तु" इति ब्रह्मसूत्रम् । 'न' इत्यनुवर्त्तते; ब्रह्मणि कर्त्तरि लोक-दृष्टाः भ्रमादयो दोषा न स्युः । कुतः ? "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इति सङ्कल्पमात्रेण निखिल-सृष्टि-श्रवणात् । ननु श्रुतिर्बाधितं कथं ब्रूयादिति चेत्तत्राह, —शब्देति । अविचिन्त्यार्थस्य शब्दैकप्रमाणकत्वात् । दृष्टञ्चैतन्मणिमन्त्रादौ । "पितृदेव"—इत्युद्धवोक्तिरेकादशे । हे ईश्वर ! तव वेदः पित्रादीनां श्रेयः—श्रेष्ठं चक्षुः । क ? इत्याह —"अनुपलब्धेऽर्थे" इत्यादि । तथा च वेद एवास्माकं प्रमाणमिति मद्वाक्यं सर्वसम्मतमिति नापूर्वं मयोक्तम् ॥११॥

हिन्दीटीका

श्रीवेदव्यासादि महानुभावों ने यह स्वीकार किया है कि पुरुषों की बुद्धि भिन्न-भिन्न है अर्थात् मत में सामंजस्य नहीं है, अतएव तर्क की प्रतिष्ठा नष्ट है । अचिन्त्य पदार्थों को तर्क से युक्तायुक्त नहीं किया जाता है । श्रीहरि अनुमानगम्य नहीं, क्योंकि शास्त्र उनका कारण नहीं है; श्रुतियाँ शब्दमूलक हैं इत्यादि वचन भी हैं । अतः एकादश स्कन्ध में श्री उद्धव ने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति कहा है—हे ईश्वर ! पितृ, देव और मनुष्यों के नेत्र आपके वेद हैं । श्रेय, स्वर्ग, मोक्ष, साध्य तथा साधन में वेद ही प्रमाण हैं ॥११॥

तत्र च वेदशब्दस्य सम्प्रति दुष्पारत्वात् दुरधिगमार्थत्वाच्च तदर्थनिर्णायकानां मुनीनामपि परस्परविरोधाद् वेदरूपो वेदार्थनिर्णायकश्चेतिहास-पुराणात्मकः शब्द एव विचारणीयः। तत्र च यो वा वेदशब्दो नात्म-विदितः सोऽपि तद्दृष्ट्यानुमेय एवेति सम्प्रति तस्यैव प्रमोत्पादकत्वं स्थितम्। तथाहि महा भारते मानवीये ;—

"इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।" [म. भा. आ. १. २६७] इति, "पूरणात् पुराणम्" इति चान्यत्र। न चावेदेन वेदस्य बृंहणं सम्भवति, न ह्यपरिपूर्णस्य कनकवलयस्य त्रपुणा पूरणं युज्यते। ननु यदि वेद-शब्दः पुराणमितिहासञ्चोपादत्ते, तर्हि पुराणमन्यदन्वेषणीयम्। यदि तु न, न तर्हीतिहास-पुराणयोरभेदो वेदेन। उच्यते ;—विशिष्टैकार्थ-प्रतिपादक—पद-कदम्बस्यापौरुषेयत्वादभेदेऽपि स्वरक्रम-भेदाद्-भेद-निर्देशो प्युपपद्यते। ऋगादिभिः सममनयोरपौरुषेयत्वेनाभेदो माध्यन्दिनश्रुतावेव व्यज्यते,—"एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्" [बृ० आ० २. ४. १०] इत्यादिना ॥१२॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

एवं चेदृगादिवेदेनास्तु परमार्थ-विचारः ? तत्राह,—तत्र च वेदशब्द-स्येति। तर्हि न्यायादिशास्त्रै र्वेदार्थनिर्णेतृभिः सोऽस्तु ? इति चेत्त-त्राह,—तदर्थनिर्णायकानामिति। तस्यैवेति—इतिहासपुराणात्मकस्य वेदरूप इत्यर्थः। समुपबृंहयेदिति—वेदार्थं स्पष्टीकुर्य्यादित्यर्थः। पूरणादिति—वेदार्थस्येति बोध्यम्। त्रपुणा—सीसकेन। पुराणेतिहासयो-र्वेदरूपतायां कश्चिच्छङ्कते—नन्वित्यादिना। तत्र समाधत्ते—उच्यत इत्यादिना। निखिलशक्तिविशिष्टभगवद्रूपैकार्थप्रतिपादकं यत् पद-कदम्बमृगादिपुराणान्तं तस्येति। ऋगादिभागे स्वर-क्रमोऽस्ति, इतिहास-पुराणभागे तु स नास्ति—इत्येतदंशेन भेदः। "एवं वा" इति मैत्रेयीं पत्नीं प्रति याज्ञवल्क्य-वचनम्। अरे—मैत्रेयि! अस्य—ईश्वरस्य। महतो–विभोः, पूज्यस्य वा। भूतस्य—पूर्वसिद्धस्य। स्फुटार्थमन्यत् ॥१२॥

हिन्दीटीका

वेदों के शब्द अपार एवं दुरूह हैं। वेदों के अर्थ का निर्णय करने-वाले मुनि-जनों में परस्पर मतान्तर है। अतः, वेदों के अर्थ का निर्णय करनेवाले इतिहास एवं पुराणों के शब्द ही विचारणीय हैं। जो भी वेदों के शब्द अपने को विदित नहीं हैं वे भी पुराणों की दृष्टि से अनुमान किये जा सकते हैं। अतः, पुराणों को ही यथार्थ ज्ञान का उत्पादकत्व स्थिर होता है। महाभारत तथा मानवीय में वचन मिलता है कि "इतिहास एवं पुराण के द्वारा वेद की वृद्धि करें। पूरणकर्त्ता होने के कारण 'पुराण' कहा जाता जाता है"। तब यह प्रश्न उठता है कि क्या वेद से अन्य शब्दों द्वारा वेद का वर्द्धन सम्भव है ? यदि सुवर्ण का कंकण अपूर्ण है तो क्या वह राँगा (सीसा) से पूरा किया जा सकता है ? इसका यह युक्त होगा—

यदि वेद शब्द पुराण एवं इतिहास को ग्रहण कर लेता है तो दूसरा पुराण अन्वेषण करना चाहिये। यदि ऐसा नहीं? तो वेदों से पुराण का अभेदत्व है। इसके उत्तर में यही कहना पर्याप्त है कि किसी एक विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादक पद-समूह अपौरुषेय से समानता रखता हुआ भी स्वर-क्रम के भेद से तो भिन्न अवश्य है। ऋग्वेदादि के साथ, इतिहास एवं पुराणों का अपौरुषेय रूप से अभेद माध्यन्दिन श्रुति में स्पष्ट रूप से व्यक्त है। इस प्रकार महाभूत स्वरूप भगवान् के ये निश्वास हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, आङ्गिरस, इतिहास और पुराण, ऐसा वचन है ॥१२॥ *

अतएव स्कान्द-प्रभासखण्डे —

"पुरा तपश्चचारोग्रममराणां पितामहः।
आविर्भूतास्ततो वेदाः सषडङ्ग-पदक्रमाः॥
ततः पुराणमखिलं सर्व्वशास्त्रमयं ध्रुवम्।
नित्यशब्दमयं पुण्यं शतकोटि-प्रविस्तरम्।
निर्गतं ब्रह्मणो वक्त्रात्तस्य भेदान्निबोधत॥
ब्राह्म्यं पुराणं प्रथमम्—" इत्यादि।

अत्र शतकोटिसंख्या ब्रह्मलोके प्रसिद्धेति तथोक्तम्। तृतीय-स्कन्धे च ;—

"ऋग्यजुः सामाथर्व्वाख्यान् वेदान् पूर्व्वादिभिर्मुखैः।"

[भा० ३. १२. ३७।]

* 'पुराणादिकम्' इति पाठान्तरम्,—तदन्ते "अन्यत्" इत्यत्र "अन्यवत्" इति पाठः श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्यसम्मतः।

इत्यादिप्रकरणे—

"इतिहास-पुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्यः एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्व्वदर्शनः॥

[भाग० ३. १२. ३९] इति।

अपि चात्र साक्षादेव वेद-शब्दः प्रयुक्तः पुराणेतिहासयोः। अन्यत्र च ;—

"पुराणं पञ्चमो वेदः—
इतिहासः पुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते।
वेदानध्यापयामास महाभारत पञ्चमान्॥" इत्यादौ।

अन्यथा—"वेदान्" इत्यादावपि पञ्चमत्वं नावकल्पेत, समानजातीय-निवेशितत्वात् संख्यायाः। भविष्यपुराणे ;—

"कार्ष्णञ्च पञ्चमं वेदं यन्महाभारतं स्मृतम्॥" इति।

तथा च साम-कौथुमीयशाखायां, छान्दोग्योपनिषदि च ;—

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्व्वणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्" [३. १५. ७] इत्यादि।

अतएव "अस्य महतो भूतस्य" इत्यादावितिहास-पुराणयोश्चतुर्णामेवान्तर्भूतत्वकल्पनया प्रसिद्ध-प्रत्याख्यानं निरस्तम्। तदुक्तम् *; —"ब्राह्मं पुराणं प्रथमं" इत्यादि॥१३॥

* "तथोक्तं" इति पाठः—गोस्वामिभट्टाचार्य्य-धृतः।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

पुरेत्यादौ वेदानां पुराणानाञ्चाविर्भाव उक्तः। ससृजे—आविर्भावयामास। समानेति—यज्ञदत्त-पञ्चमान् विप्रानामन्त्रयस्व इतिवत्। कार्ष्णमिति,—कृष्णेन—व्यासेनोक्तमित्यर्थः। अतएवेति—पञ्चमवेदत्वश्रवणादेवेत्यर्थः। चतुर्णामेवान्तर्भूतत्वेति—भगवन्निःश्वसितभूते ये इतिहास-पुराणे ते चतुर्णामेवान्तर्गते। 'तेष्वेव यत्पुरावृत्तम्, यच्च पञ्चलक्षणमाख्यानम्, ते एव तद्भूते ग्राह्ये, न तु ये व्यासकृतत्वेन भुवि ख्याते शूद्राणामपि श्रव्ये' इति कर्म्मठैर्यत् कल्पितं तन्निरस्तमित्यर्थः ॥१३॥

हिन्दीटीका

अतएव स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड में कहा गया है कि "देवताओं के पितामह ने उग्र तप किया। उससे पद-क्रम तथा छहों अङ्गों सहित वेद प्रकट हुए। तदनन्तर सकल-शास्त्रमय ध्रुव एवं नित्य शब्दमय, पुण्यस्वरूप सौ करोड़ विस्तार से विस्तृत ब्रह्मा जी के मुख से निर्गत हुए। उनके भेद इस प्रकार हैं—जैसे ब्रह्मपुराण प्रथम, इत्यादि। यहाँ पर शतकोटि संख्या ब्रह्मलोक में प्रसिद्ध है, ऐसा कहा गया। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में "ऋक्, यजु, साम, अथर्व नामक वेदों को ब्रह्माजी ने क्रमशः अपने पूर्वादि मुखों से प्रकट किया। इस प्रकरण में—सकल द्रष्टा श्रीब्रह्मदेव ने अपने सम्पूर्ण मुखों से पंचम वेद इतिहास तथा पुराण का सृजन किया।" अन्य स्थानों में भी कहा है कि "पुराण पाँचवाँ वेद है।" इतिहास तथा पुराण पाँचवें वेद कहलाते हैं "वेदों को पढ़ाया, जिसमें पाँचवाँ महाभारत है।" अन्यथा संख्या यदि समान जातीय में ही प्रविष्ट होती है, पाँचवीं संख्या विजातीय में नहीं आ सकती, तो यह सिद्ध है

कि पुराण और इतिहास भी वेद के सजातीय हैं। भविष्यपुराण में कृष्ण द्वैपायन के द्वारा कथित है कि पाँचवाँ वेद महाभारत है। सामवेद की कौथुमी शाखा में एवं छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि—हे भगवन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथे अथर्ववेद एवं वेदों का पाँचवाँ वेद इतिहास एवं पुराणों को मैं पढ़ता हूँ।" अतएव चार वेदों के अन्तर्गत ही पुराण और इतिहास हैं—यह कल्पना करना तथा पञ्चम वेद नाम से प्रसिद्ध को खण्डन करना व्यर्थ ही होगा। अतः, ब्रह्म-पुराण प्रथम है, यह कहा गया ॥१३॥

पञ्चमत्वे कारणञ्च वायु-पुराणे सूत-वाक्यम् ;—

"इतिहासपुराणानां वक्तारं सम्यगेव हि।
माञ्चैव प्रतिजग्राह भगवानीश्वरः प्रभुः॥
एक आसीद्यजुर्व्वेदस्तं चतुर्द्धा व्यकल्पयत्।
चातुर्होत्रमभूत्तस्मिंस्तेन यज्ञमकल्पयत्॥
आध्वर्य्यवं यजुर्भिस्तु ऋग्भिर्होत्रं तथैव च।
औद्गात्रं सामभिश्चैव ब्रह्मत्वञ्चाप्यथर्व्वभिः॥
आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिर्द्विज-सत्तमाः।
पुराण-संहिता-*श्चक्रे पुराणार्थ-विशारदः॥
यच्छिष्टं तु यजुर्व्वेदे इति शास्त्रार्थ निर्णयः॥" इति।

ब्रम्हयज्ञाध्ययने च विनियोगो दृश्यतेऽमीषाम्—"यद्-ब्रह्मणानेतिहासपुराणानि" इति। सोऽपि नावेदत्वे सम्भवति। अतो यदाह भगवान् मात्स्ये ;—

* "संहितां" इति वा पाठान्तरम्।

"कालेनाग्रहणं मत्वा पुराणस्य द्विजोत्तमाः !
व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे-युगे ॥" इति ।

पूर्वसिद्धमेव पुराणं सुखसंग्रहणाय सङ्कलयामीति तत्रार्थः । तदनन्तरं ह्युक्तम् ;—

"चतुर्लक्ष-प्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा ।
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रभाष्यते ॥
अद्याप्यमर्त्त्य-लोके तु* शतकोटि-प्रविस्तरम् ।
तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षः संक्षेपेण निवेशितः ॥"

[५३. ८. ११] इति ।

अत्र तु† "यच्छिष्टं तु यजुर्व्वेदे" इत्युक्तत्वात्तस्याभिधेय-भागश्चतुर्लक्षस्त्वत्र मर्त्त्यलोके संक्षेपेण सार-संग्रहेण निवेशितो, न तु रचनान्तरेण ॥१४॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

पञ्चमत्वे कारणञ्चेति ;—ऋगादिभिश्चतुर्भिश्चातुर्होत्रं—चतुर्भि-र्ऋत्विग्भिर्निष्पाद्यं कर्म्म भवति, इतिहासादिभ्यां तन्न भवतीति तद्भागस्य पञ्चमत्वमित्यर्थः । आख्यानैः—पञ्चलक्षणैः पुराणानि । उपाख्यानैः—पुरावृत्तैः, गाथाभिः—छन्दो-विशेषैश्च, संहिताः—भारत-रूपाश्चक्रे । ताश्च—"यच्छिष्टं तु यजुर्वेदे" तद्रूपा इत्यर्थः—ब्रह्मेति ;-ब्रह्मयज्ञे—वेदाध्ययने, अमीषां—इतिहासादीनां विनियोगो दृश्यते,

* "तत्" इति वा पाठः ।

† "अत्र च" इति च पाठान्तरम् ।

‡ "रचनान्तरेण" इति पाठः—गोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः ।

सोऽपि विनियोगः—तेषामवेदत्वे न सम्भवति । कृत्वा—आविर्भाव्य । सङ्कलयामि—संक्षिपामि । अभिधेयभागः—सारांशः ॥१४॥

हिन्दीटीका

इतिहास एवं पुराण को पञ्चम के बारे में वायुपुराण में सूतजी ने कहा—भगवान् ईश्वर ने, इतिहास-पुराण का वक्ता मुझको बनाया। पहले एक यजुर्वेद था उसके चार भाग किये—उसके चार ऋत्विगों द्वारा चातुर्होत्र यज्ञ का निर्माण हुआ। यजु से अध्वर्यु, ऋक् से होता, साम से उद्गाता, अथर्व से ब्रह्मा का निर्माण हुआ। हे शौनकादि श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! पुराणार्थ विशारद श्रीव्यास जी ने यजुर्वेद का शेष तथा उससे आख्यान उपाख्यानों द्वारा पुराण-संहिताओं का निर्माण किया। यही शास्त्र का अर्थ निर्णय है।

ब्रह्मयज्ञ अध्ययन में पुराणों का विनियोग होता है। क्योंकि ब्राह्मण भाग एवं इतिहास-पुराण भी वेद हैं। मत्स्यपुराण में भगवान् ने कहा है—"हे द्विजोत्तम ! समय के प्रभाव से पुराण का ग्रहण नहीं हुआ, अतः मैं व्यास रूप से युग-युग में संकल करता हूँ" अर्थात् पूर्व सिद्ध पुराणों को सुख से संग्रह करने के लिये उनका सङ्कलन करता हूँ।" तदनन्तर कहा—"चार लाख प्रमाण से प्रति द्वापर में सदा अठारह भागों में रचना कर इस भूलोक में कहा जायगा। आज भी मर्त्यलोक से अतिरिक्त लोक में सौ करोड़ अर्थात् एक अरब पुराणों का विस्तार विद्यमान है। उसी का अर्थ चार लाख में संक्षेप से किया गया है। यहाँ पर जो शेष यजुर्वेद का बताया गया है उसी एक अरब का वाच्य है। कोई अपूर्व रचना नहीं है ॥१४॥

तथैव दर्शितं वेद-सहभावेन शिवपुराणस्य वायवीय-संहितायाम् ;—

"संक्षिप्य चतुरो वेदांश्चतुर्द्धा व्यभजत् प्रभुः ।
व्यस्तवेदतयाख्यातो * वेदव्यास इति स्मृतः ॥
पुराणमपि संक्षिप्तं चतुर्लक्षप्रमाणतः ।
अद्याप्यमर्त्य-लोके तु शतकोटि-प्रविस्तरम् ॥"

[१. २३. २४] इति ।

संक्षिप्तमित्यत्र तेनेतिशेषः । स्कान्दमाग्नेयमित्यादिसमाख्यास्तु प्रवचननिबन्धनाः काठकादिवत् ; आनुपूर्व्वी-निर्म्माणनिबन्धना वा । तस्मात् क्वचिदनित्यत्व-श्रवणं त्वाविर्भावतिरोभावापेक्षया । तदेवमितिहासपुराणयोर्वेदत्वं सिद्धम् । तथापि सूतादीनामधिकारः—सकल-निगमवल्ली-सत्फलश्रीकृष्णनामवत् । यथोक्तं प्रभासखण्डे ;—

"मधुर-मधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकलनिगमवल्ली सत्फलं चित्-स्वरूपम् ।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर ! नरमात्रं तारयेत् कृष्ण-नाम ॥" इति ।

* "लोके" इति वा पाठः ।

यथा चोक्तं विष्णुधर्मे ,—

"ऋग्वेदोऽथ यजुर्व्वेदः सामवेदोऽप्यथर्व्वणः ।
अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षर-द्वयम् ॥" इति ।

अथ वेदार्थ-निर्णायकत्वञ्च वैष्णवे ;—

"भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थः प्रदर्शितः ।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्व्वे पुराणे नात्र संशयः ॥" इत्यादौ ।

किञ्च; वेदार्थ-दीपकानां शास्त्राणां मध्यपातिताभ्युपगमेऽप्याविर्भावकवैशिष्ट्यात्तयोरेव वैशिष्ट्यम् । यथा पाद्मे ;—

"द्वैपायनेन यद्बुद्धं ब्रह्माद्यैस्तन्न बुध्यते ।
सर्व्व-बुद्धं स वै वेद तद्बुद्धं नान्य-गोचरः ॥" ॥१५॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

व्यस्तेति ;—व्यस्ताः—विभक्ता वेदा येन ; तत्तया वेदव्यासः स्मृतः । स्कान्दमित्यादि,—स्कन्देन प्रोक्तं; न तु कृतमिति वक्तृहेतुका स्कान्दादि-संज्ञा, 'कठेनाधीतं काठकम्' इत्यादिसंज्ञावत् । कठानां वेदः काठकः, "गोत्रचरणाद्वुञ्"—"चरणाद्धर्म्माम्नाययोरिति वक्तव्यम्"—इतिसूत्र-वार्त्तिकाभ्याम् । ततश्च 'कठेनाधीतम्' इति सुष्ठूक्तम् । अन्यथा जन्य-त्वेनानित्यतापत्तिः । आनुपूर्व्वी—क्रमः, 'ब्राह्म्यं' इत्यादिक्रमनिर्माण-हेतुका वा सा सा संज्ञेत्यर्थः । ब्राह्म्यादिक्रमेण पुराणभागो बोध्यः ।

---

* अत्र—"स्वरादिभेद-निर्देशस्तु पूर्व्वमुद्दिष्ट एव" इत्यधिक पाठो बहरमपुर मुद्रितपुस्तकतो लब्धः ।

तथापि सूतादीनामिति ;—इतिहासादेर्वेदत्वेऽपि तत्र शूद्राद्यधिकारः—'स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनाम्' इत्यादिवाक्य-बलाद् बोध्यः। यथा रथकारस्याऽग्न्याधानाङ्गे मन्त्रे तद्वाक्यबलादिति बोध्यम्। भारत-व्यपदेशेनेति ;—दुरूहभागस्य व्याख्यानात्, छिन्नभागार्थ-पूरणाच्च पुराणे वेदाः प्रतिष्ठिताः—नैश्चल्येन स्थिता इत्यर्थः। किञ्चेति ;—वेदार्थदीपकानां मानवीयादीनां मध्ये यद्यपीतिहास-पुराणयोः स्मृतित्वेनाभ्युपगमास्तथापि व्यासस्येश्वरस्य तदाविर्भावकत्वात्तदुत्कर्ष इत्यर्थः। तत्र प्रमाणम्—द्वैपायनेनेत्यादि ॥१५॥

हिन्दीटीका

उसी प्रकार वेद का साथ पुराणों के लिये शिवपुराण की वायवीय-संहिता में लिखा है—"भगवान् ने चारों वेदों को संक्षेप चार भागों में विभाजित किया। वेद का व्यास बहुत बड़ा था। अतः, उनका नाम वेदव्यास पड़ा। चार लाख के प्रमाण से युक्त पुराणों को उन्होंने संक्षिप्त किया। स्कान्द, आग्नेय आदि नाम केवल प्रवचन के सम्बन्ध हुए जैसे काठकोपनिषद् अथवा आनुपूर्वीत्व के सम्बन्ध से। अतः, कहीं-कहीं अनित्यत्व वचन मिलते हैं उनका अभिप्राय आविर्भाव-तिरोभाव से है। अतएव इतिहास-पुराणों का भी वेदत्व सिद्ध हुआ। पुनश्च, सूतादिकों का अधिकार सकल निगम लता के सत्फल श्रीकृष्ण नाम के तुल्य है। जैसा कि प्रभास खण्ड में कहा गया है—"यह बार-बार मधुर है, मङ्गलों का भी मङ्गल विधान करनेवाला समग्रवेदरूपी लता का सत् फल तथा चित् स्वरूप है। एक बार भी यदि श्रद्धा अथवा लीला-खेल में कोई इसका उच्चारण करता है, तो हे भृगुवर, श्रीकृष्ण नाम उसका

उद्धार कर देता है।" जैसा कि विष्णु-धर्म में कहा गया है—"ऋग्, यजुः, साम, अथर्व वेदों का उसने अध्ययन कर लिया, जिसने 'हरि' इन दो अक्षरों का उच्चारण किया। इसके बाद विष्णुपुराण में वेदार्थ निर्णायक पुराण और इतिहास को कहा गया है—"महाभारत के बहाने से आपने वेद का अर्थ प्रदर्शन किया। पुराण में वेद प्रतिष्ठित हैं इसमें कोई संशय नहीं" इत्यादि। पुनश्च वेद के अर्थ को प्रकाश करनेवाले शास्त्रों को मध्यपाति स्वीकार करने पर भी आविर्भावक की विशेषता से इतिहास-पुराणों की ही विशेषता है। जैसा कि पद्मपुराण में कहा है—"श्रीवेदव्यास जी ने जो जाना वह ब्रह्मा आदि भी नहीं जाना सकते। सब कुछ ज्ञान को उनने जाना, जो वे जानते हैं, दूसर नहीं जान सकता ॥१५॥

स्कान्दे ;—

"व्यास-चित्तस्थिताकाशादवच्छिन्नानि कानिचित्।
अन्ये व्यवहरन्त्येतान्युरीकृत्य गृहादिव *॥" इति।

तथैव दृष्टं श्रीविष्णुपुराणे पराशर-वाक्यम् ;—

"ततोऽत्र मत्सुतोव्यासः अष्टाविंशतिमेऽन्तरे।
वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्द्धा व्यभजत् प्रभुः॥
यथाऽत्र तेन वै व्यस्ता वेदव्यासेन धीमता।
वेदास्तथा समस्तैस्तैर्व्यासैरन्यैस्तथा मया॥
तदनेनैव व्यासानां शाखाभेदान् द्विजोत्तम!
चतुर्युगेषु रचितान् समस्तेष्ववधारय॥

* "गृहादिवत्"—इति पाठान्तरम्।

कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम् ।
कोऽन्यो हि भुवि मैत्रेय ! महाभारतकृद्भवेत् ॥"
[३ अं, ४. २.] इति ।

स्कान्द एव ;—

"नारायणाद्विनिष्पन्नं ज्ञानं कृतयुगे स्थितम् ।
किञ्चित्तदन्यथा जातं त्रेतायां द्वापरेऽखिलम् ॥
गौतमस्य ऋषेः शापाज्ज्ञाने त्वज्ञानतां गते ।
सङ्कीर्णबुद्धयो देवा ब्रह्म-रुद्र-पुरःसराः ॥
शरण्यं शरणं जग्मुर्नारायणमनामयम् ।
तैर्विज्ञापितकार्य्यस्तु भगवान् पुरुषोत्तमः ।
अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात् ॥
उत्सन्नान् भगवान् वेदानुज्जहार हरिः स्वयम् ॥" इति—

वेदशब्देनात्र पुराणादिद्वयमपि गृह्यते । तदेवमितिहास-पुराण-विचार एव श्रेयानिति सिद्धम् । तत्रापि पुराणस्यैव गरिमा दृश्यते । उक्तं हि नारदीये ;—

"वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने !
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ॥
पुराणमन्यथा कृत्वा तिर्य्यग्योनिमवाप्नुयात् ॥" इति ॥१६॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

व्यासेति ।—बादरायणस्य ज्ञानं महाकाशम्, अन्येषां ज्ञानानि तु तदंशभूतानि खण्डाकाशानीति तस्येश्वरत्वात् सार्व्वज्ञमुक्तम् । 'ततोऽत्र

मत्सुतः' इत्यादौ च व्यासान्तरेभ्यः पाराशर्य्यस्येश्वरत्वान्महोत्कर्षः। 'नारायणात्' इत्यादौ चेश्वरत्वं प्रस्फुटमुक्तम्। गौतमस्य शापात् इति ;— 'वरोत्पन्ननित्यधान्यराशिर्गौतमो महति दुर्भिक्षे विप्रानभोजयत्। अथ सुभिक्षे गन्तुकामान् तान् हठेन न्यवासयत्। ते च माया-निर्म्मितायाः गोर्गौतम-स्पर्शेन मृतायाः हत्यामुक्त्वा गताः। ततः कृतप्रायश्चित्तोऽपि गौतमस्तन्मायां विज्ञाय शशाप, ततस्तेषां ज्ञान-लोपः' इति वाराहे कथास्ति। अधिकमिति—निःसन्देहत्वादिति बोध्यम्। अन्यथा कृत्वा—अवज्ञाय ॥१६॥

हिन्दीटीका

स्कन्दपुराण में कहा है—"व्यासजी का चित्त महाकाश के समान है, अन्य महानुभाव उसका गृहाकाश के समान अनुभव करते हैं।" ऐसा ही विष्णुपुराण में पराशर का वाक्य मिलता है—"मेरे पुत्र व्यास ने २८ वें कलियुग के पूर्व चतुष्पाद वेद को चार भागों में विभाजित किया। बुद्धिमान् व्यास ने जिस प्रकार वेदों का विस्तार किया, उसी प्रकार समस्त व्यासों ने तथा मैंने भी किया। चारों युगों में रचित शाखा भेदों को विस्तार युक्त समझें। कृष्ण द्वैपायन को नारायण ही जानना चाहिये। हे मैत्रेय ! दूसरा कौन इस भूलोक पर महाभारत का कर्त्ता हो सकता है ?" स्कन्द पुराण में नारायण के द्वारा सम्पादित ज्ञान सत्ययुग में स्थित था। कुछ उसमें कम हो गया। त्रेता में तथा द्वापर में और भी कम गया। गौतम ऋषि के शाप से ज्ञान को अज्ञान के रूप में परिवर्त्तित होने पर सङ्कीर्ण बुद्धिवाले ब्रह्मा, रुद्र आदि देवगण आधिव्याधिरहित परम रक्षक भगवान् नारायण के समीप गये और उनके द्वारा कार्य की प्रार्थना की।

तब भगवान् पुरुषोत्तम सत्यवती के गर्भ में पराशरजी से भगवान् व्यास अवतीर्ण हुए। नष्टप्राय वेदों का उनने स्वयं उद्धार किया।" वेद शब्द से यहाँ इतिहास-पुराण भी गृहीत हैं। इस प्रकार इतिहास एवं पुराणों के विचार ही श्रेष्ठतम हैं, वहाँ भी पुराणों की गरिमा देखने को मिलती है। ऐसा नारदीय-पुराण में कहा गया है—"हे वरानने! वेदों के अर्थ से भी अधिक मैं पुराणों के अर्थ को मानता हूँ। समस्त वेद पुराणों में प्रतिष्ठित हैं इसमें कोई संशय नहीं है। पुराणों का अपमान करके पशु-योनि को प्राप्त होता है, कितना ही दान्त-शान्त क्यों न हो? वह कभी गति नहीं पावेगा, इत्यादि कहा गया है ॥१६॥

स्कान्द-प्रभासखण्डे च ;—

"वेदवन्निश्चलं मन्ये पुराणार्थं द्विजोत्तमाः।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः॥
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं चालयिष्यति।
इतिहास-पुराणैस्तु निश्चलोऽयं कृतः पुरा॥
यन्न दृष्टं हि वेदेषु तद्दृष्टं स्मृतिषु द्विजाः।
उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत् पुराणैः प्रगीयते॥
यो वेद चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजाः।
पुराणं नैव जानाति न च स स्याद्विचक्षणः॥" इति।

अथ पुराणामेवं * प्रामाण्ये स्थितेऽपि तेषामपि सामस्त्येनाप्रचरद्रूपत्वात् नाना देवताप्रतिपादकप्रायत्वादर्वाचीनैः

* "पुराणानामेव" इति वा पाठः।

क्षुद्रबुद्धिभिरर्थो दुरधिगम इति तदवस्थ एव संशयः। यदुक्तं मात्स्ये ;—

"पञ्चाङ्गत्वं पुराणं स्यादाख्यानमितरत् स्मृतम्।
सात्त्विकेषु च कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः॥
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः।
तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च॥
सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणाञ्च निगद्यते॥" इति।

अत्राग्नेस्तत्तदग्नौ प्रतिपाद्यस्य * तत्तद्यज्ञस्येत्यर्थः। शिवस्य चेति चकाराच्छिवायाश्च। सङ्कीर्णेषु—सत्त्वरजस्तमोमयेषु कल्पेषु बहुषु। सरस्वत्याः—नाना वाण्यात्मक-तदुपलक्षिताया नाना देवताया इत्यर्थः। पितॄणां—"कर्म्मणा पितृलोकः" इति श्रुतेस्तत्प्रापक-कर्म्मणामित्यर्थः॥१७॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

वेदवदिति ;—पुराणार्थो वेदवत् सर्व्वसम्मत इत्यर्थः। ननु पण्डितैः कृताद्वेदभाष्यात्तदर्थो ग्राह्य इति चेत्तत्राह,—बिभेतीति ; अकृते भाष्ये सिद्धे किं तेन कृत्रिमेणेति भावः। अथेति ;—असन्दिग्धार्थतया पुराणानामेव प्रामाण्ये—प्रमाकरणत्वे इत्यर्थः। अर्व्वाचीनैः—क्षुद्रबुद्धिभिरिति। यस्य विभूतयोऽपीदृश्यः, स हरिरेव सर्व्वश्रेष्ठ इति तदैकार्थ्यं—

"वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्व्वत्र गीयते॥"—

इति हरिवंशोक्तमजानद्भिरित्यर्थः॥१७॥

* "सम्पाद्यस्य"—इति पाठान्तरम्।

हिन्दीटीका

स्कन्द-पुराण के प्रभासखण्ड में भी कहा है—"हे द्विजोत्तम ! वेद के समान पुराण के अर्थ को निश्चल मानता हूँ । पुराण में वेद प्रतिष्ठित हैं इसमें कोई संशय नहीं । वेद में अल्प शब्द होने के कारण यह वेद भय करता है एवं मुझको दृढ़ नहीं कर सकता । इतिहास-पुराणों के द्वारा इसे निश्चल किया गया है । हे द्विजो ! जो वेद में नहीं देखा गया वह स्मृतियों में दृष्ट है । और, जो उन दोनों में नहीं देखा गया, वह पुराणों में कहा गया है । जो केवल चारों वेदों को वेदाङ्ग, उपनिषद् के साथ जानता है, वह पुराण नहीं जानता, वह विद्वान् नहीं है ।

इस प्रकार पुराणों की प्रमाणिकता होने पर समस्त रूप से प्रचार-भाव के कारण अनेक देवताओं का प्रतिपादक होने के कारण आधुनिक क्षुद्र-बुद्धि जन उसका यथार्थ ज्ञान नहीं कर पायेंगे तब तो संशय बना ही रहेगा; जैसा कि मत्स्यपुराण में कहा है—"पुराण के पाँच अङ्ग हैं, दूसरा आख्यान है । सात्विक कल्पों में श्रीहरि का अधिक माहात्म्य है, राजसिक कल्पों में ब्रह्मा का, तामसिक कल्पों में शिव और पार्वती का, सङ्कीर्ण अर्थात् सत्व-रज-स्तमोमय अनेक कल्पों में सरस्वती का अर्थात् अनेक प्रकार के वाङ्मय से उपलक्षित (परिचित) अनेक देवताओं का तथा पितृलोक प्राप्त करनेवाले माहात्म्य कहा गया है ॥१७॥

तदेवं सति तत्तत्कल्पकथामयत्वेनैव मात्स्य एव प्रसिद्धानां तत्तत्पुराणानां व्यवस्था ज्ञापिता । तारतम्यन्तु कथं स्यात्, येनेतर-निर्णयः क्रियेत ? सत्त्वादितारतम्येनैवेति चेत्, "सत्त्वात

सञ्जायते ज्ञानम्" इति "सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्" इति च न्यायात् सात्त्विकमेव पुराणादिकं परमार्थ-ज्ञानाय* प्रबलमित्यायातम्। तथापि परमार्थेऽपि नानाभंग्या विप्रतिपद्यमानानां समाधानाय किं स्यात्। यदि† सर्व्वस्यापि वेदस्य‡ पुराणस्य चार्थ-निर्णयाय तेनैव श्रीभगवता व्यासेन ब्रह्मसूत्रं कृतं, तदवलोकनेनैव सर्व्वोऽर्थो निर्णेय इत्युच्यते, तर्हि नान्यसूत्रकारमुन्यनुगतैर्मन्येत। किञ्चात्यन्तगूढार्थानामल्पाक्षराणां ततसूत्राणामन्यार्थत्वं कश्चिदाचक्षीत ततः कतरदिवात्र समाधानम्? तदेव समाधेयम्;—यद्येकतममेव पुराणलक्षणमपौरुषेयं शास्त्रं सर्व्ववेदेतिहास-पुराणानामर्थसारं ब्रह्मसूत्रोपजीव्यञ्च भवद्भुवि सम्पूर्णं प्रचरद्रूपं स्यात्। सत्यमुक्तम्; यत एव च सर्व्वप्रमाणानां चक्रवर्त्ति-भूतमस्मदभिमतं श्रीमद्भागवतमेवोद्भावितं भवता ॥१८॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

तदेवमिति। मात्स्य एवेति—पुराणसंख्या-तद्दानफल-कथनाञ्चितेऽध्याये इति बोध्यम्। तारतम्यमिति—अपकर्षोत्कर्षरूपम्, येनेतरस्य—उत्कृष्टस्य पुराणस्य निर्णयः स्यादित्यर्थः। 'सात्त्विकपुराणमेवोत्कृष्टं' इति

* "परमार्थज्ञापनाय" इति वा पाठः।

† "च" इत्यधिकपाठः क्वचित्।

‡ "वेदस्य" इत्यत्र "इतिहासस्य" इति क्वचित्।

भावेन स्वयमाह,—सत्त्वादिति । पृच्छति—तथापीति ; परमार्थ-निर्णयाय सात्त्विक-शास्त्राङ्गीकारेऽपीत्यर्थः। नानाभङ्ग येति—'सगुणं निर्गुणं ज्ञान-गुणकं जडं' इत्यादिकं कुटिलयुक्तिकदम्बैर्निरूपयतामित्यर्थः। नान्यसूत्र-कारेति—गौतमाद्यनुसारिभिरित्यर्थः। ननु ब्रह्मसूत्रशास्त्रे स्थिते कापेक्षा तदन्य-सूत्राणाम् ? इति चेत्तत्राह ;—किञ्चात्यन्तेति—पृष्टः प्राह ;—तदेवेति। ब्रह्मसूत्रोपजीव्यमिति—येन ब्रह्मसूत्रं स्थिरार्थं स्यादित्यर्थः। पृष्टस्य हृद्गतं स्फुटयति,—सत्यमुक्तमित्यादिना ॥१८॥

हिन्दीटीका

तो इस प्रकार भिन्न-भिन्न कल्प की कथाएँ होने के कारण तत्तत् पुराणों की व्यवस्था बतलाई। तारतम्य हो नहीं सकता जिससे अन्य निर्णय किया जाय। यदि सत्त्वादि भेद को लिया जाय तो सत्य से ज्ञान होता है। सत्य ही ब्रह्म का दर्शन है। इस न्याय से सात्विक ही पुराणादि परमार्थ ज्ञान के लिये प्रबल हैं यह निश्चित हुआ। तथापि परमार्थ में भी अनेक क्रम सगुण-निर्गुण ज्ञानगुणकादि कुटिल युक्ति समुदाय को निरूपण करनेवालों के लिये क्या होगा ? यदि सभी वेद और पुराणों के अर्थ को निर्णय करने के लिए भगवान् व्यास ने ब्रह्म-सूत्रों का निर्णय किया। यह कहा जाय तो अन्य सूत्रकार गौतमादि मुनियों के अनुगत व्यक्ति नहीं स्वीकार करेंगे। दूसरी बात यह कि अत्यन्त गूढ़ार्थ अल्पाक्षर उन सूत्रों का यदि कोई अन्यथा अर्थ करें तो समाधान क्या हो ? और वही समाधेय है। यदि एक पुराणात्मक अपौरुषेय सकल वेद इतिहास पुराणों के अर्थ का सार है। ब्रह्मसूत्र उपजीव्य

होकर होनेवाला प्रचरद् रूप होगा। ठीक कहा आपने ! अतएव सब प्रमाणों का चक्रवर्त्तीभूत हमारे इष्ट श्रीमद्भागवत को आपने प्रकट किया ।।१८।।

यत् खलु सर्व्वं पुराण-जातमाविर्भाव्य, ब्रह्मसूत्रञ्च प्रणीयाप्यपरितुष्टेन तेन भगवता निजसूत्राणामकृत्रिम-भाष्यभूतं समाधिलब्धमाविर्भावितम् । यस्मिन्नेव सर्व्वशास्त्रसमन्वयो दृश्यते । सर्व्ववेदार्थसूत्रलक्षणां गायत्रीमधिकृत्य प्रवर्त्तितत्वात् । तथाहि तत्स्वरूपं मात्स्ये ;—

"यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्म्म-विस्तरः ।
वृत्रासुर-वधोपेतं तद्भागवतमिष्यते ।।
लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमसिंहसमन्वितम् ।
प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां स याति परमां गतिम् ।।
अष्टादश-सहस्राणि पुराणं तत् प्रकीर्त्तितम् ।।"

[५३. २०] इति ।

अत्र गायत्रीशब्देन तत्सूचक तदव्यभिचारि-'धीमहि'-पदसम्बलित-तदर्थ एवेष्यते । सर्व्वेषां मन्त्राणामादिरूपायास्तस्याः साक्षात्कथनानर्हत्वात्* । तदर्थता च, "जन्माद्यस्य यतः" "तेने ब्रह्महृदा" इति सर्व्वलोकाश्रयत्वबुद्धिप्रवृत्ति-प्रेरकत्वादिसाम्यात् । धर्म्म-

* "साक्षाल्लिखनानर्हत्वात्" इति पाठः श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्यसम्मतः । क्रमसन्दर्भेऽप्येवं पाठो दृश्यते ।

विस्तर इत्यत्र, धर्मशब्दः परमधर्मपरः, "धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमः" इत्यत्रैव प्रतिपादित्वात् † **। स च भगवद्ध्यानादिलक्षण एवेति पुरस्ताद्व्यक्तीभविष्यति ॥१६॥**

श्रीबलदेव-विद्याभूषणकृतटीका

श्रीभागवतं स्तौति;—यत् खल्वित्यादि,–अपरितुष्टेनेति—पुराणजाते ब्रह्मसूत्रे च भगवत्पारमैश्वर्य्यमाधुर्य्ययोः सन्दिग्धतया गूढतया चोक्तेस्तत्र तत्र चापरितोषः, श्रीभागवते तु तयोस्तद्विलक्षणतयोक्तेस्तत्र परितोष इति बोध्यम् । तदर्थता—गायत्र्यर्थता । स च भगवद्ध्यानादिलक्षण इति विशुद्धभक्तिमार्गबोधक इत्यर्थः ॥१६॥

हिन्दीटीका

जो कि समस्त पुराणों का आविर्भाव कर तथा ब्रह्मसूत्र का प्रमाण कर उससे भी असन्तुष्ट उन व्यासजी ने अपने सूत्रों का स्वाभाविक भाष्य जो समाधि में प्राप्त हुआ उसे प्रकट किया। जिसमें समस्त शास्त्रों का समन्वय प्राप्त है। जो समग्र वेदार्थ सूत्रभूत गायत्री को लेकर प्रवृत्त हुआ है। मात्स्य में उसका स्वरूप इस प्रकार है—"जिसमें गायत्री को अधिकृत कर धर्म का विस्तार वर्णन किया है। वृत्रासुर के वध की कथा जिसमें है वही श्रीमद्भागवत इष्ट है। सुवर्ण के सिंहासन सहित उस श्रीमद्भागवत को लिखकर भाद्रपद की पूर्णिमा को जो कोई दान करता है वह परम गति को प्राप्त करता है। अठारह हजार श्लोक-संख्या पुराण

† "इति तत्रैव प्रतिज्ञातत्वात्" इति वा पाठः ।

की कही गई है।" यहाँ गायत्री शब्द से उसका सूचक निश्चित "धीमहि" पद से युक्त उसका अभिमन्त्र है। सभी मन्त्रों की आदिभूत गायत्री को साक्षात् कहना योग्य नहीं। गायत्री का अभिभूत तो जिससे जगत् का जन्मादि, हृदय से वेदज्ञान, सकललोक का आश्रयत्व ज्ञान प्रेरकत्वादि समान है। धर्म का विस्तार यहाँ पर धर्म शब्द परम धर्म पूरक है "धर्म कपट रहित परम धर्म" इसमें प्रतिपादित किया। वह भगवान् का ध्यानादि स्वरूप ही है यह आगे व्यक्त होगा ॥१६॥

एवं स्कान्दे प्रभासखण्डे च;—"यत्राधिकृत्य गायत्रीं" इत्यादि।

"सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरामराः।
तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तच्च भागवतं स्मृतम् ॥
लिखित्वा तच्च—" इत्यादि।
"अष्टादश सहस्राणि पुराणं तत्प्रकीर्त्तितम।"

इति पुराणान्तरञ्च।

"ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्ध-सम्मितः।
हयग्रीव-ब्रह्मविद्या यत्र वृत्रबधस्तथा ॥
गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः ॥" इति।

अत्र "हयग्रीव-ब्रह्मविद्या" इति वृत्रबध-साहचर्य्येण नारायण-वर्मैवोच्यते। हयग्रीव-शब्देनात्राश्वशिरा दधीचिरेवोच्यते। तेनैव च प्रवर्त्तिता नारायणवर्माख्या ब्रह्मविद्या। तस्याश्वशिरस्त्वञ्च

षष्ठ,—"यद्वै अश्वशिरो नाम" [भा० ६. ९. ५२.] इत्यत्र प्रसिद्धम्, नारायणवर्म्मणो ब्रह्मविद्यात्वञ्च ;—

"एतच्छ्रुत्वा तथोवाच दध्यङ्ङाथर्व्वणस्तयोः ।
प्रवर्ग्यं ब्रह्मविद्याञ्च सत्कृतोऽसत्यशङ्कितः ॥"—

इति टीकोत्थापितवचनेन चेति । श्रीमद्भागवतस्य भगवत्प्रियत्वेन भगवताभीष्टत्वेन च परमसात्त्विकत्वम् । यथा पाद्मे अम्बरीषं प्रति गौतम-प्रश्नः ;—

"पुराणं त्वं भागवतं पठसे पुरतो हरेः ।
चरितं दैत्यराजस्य प्रह्लादस्य च भूपते !"

तत्रैव वञ्जुलीमाहात्म्ये तस्य तस्मिन्नुपदेशः ;—

"रात्रौ तु जागरः कार्य्यः श्रोतव्या वैष्णवी कथा ॥
गीता नाम-सहस्रञ्च पुराणं शुक-भाषितम् ।
पठितव्यं प्रयत्नेन हरेः सन्तोषकारणम् ॥"

तत्रैवान्यत्र ;—

"अम्बरीष ! शुक-प्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु ।
पठस्व स्व-मुखेनापि यदीच्छसि भव-क्षयम् ॥"

स्कान्दे प्रह्लादसंहितायां द्वारकामाहात्म्ये ;—

"श्रीमद्भागवतं भक्त्या पठते हरि-सन्निधौ ।
जागरे तत्पदं याति कुलवृन्द-समन्वितः" ॥२०॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

'ग्रन्थ' इत्यादौ हयग्रीवादिशब्दयोर्भ्रान्तिं निराकुर्व्वन् व्याचष्टे ;—अत्र हयग्रीवेत्यादिना। एतत् श्रुत्वेति। दध्यङ्—दधीचि। प्रवर्ग्यमिति—प्राणविद्याम्। ननु पाद्मादीनि सात्विकानि पञ्च सन्ति, तैरस्तु विचार इति चेत्तत्राह ;—श्रीमदिति—एतस्य परमसात्त्विकत्वे पाद्मादिवचनान्युदाहरति पुराणं त्वमित्यादिना। कुलवृन्देति—तकर्त्तृकश्रवणमहिम्ना तत्कुलस्य च हरि-पदलाभ इत्यर्थः ॥२०॥

हिन्दीटीका

स्कन्द पुराण में—श्री० भा० ग्रन्थ अठारह हजार तथा १२ स्कंध से युक्त, हयग्रीव, ब्रह्म-विद्या वृत्रवध जिसमें है, गायत्री से जिसका प्रारम्भ है, उसे भागवत कहते हैं। यहाँ हयग्रीव ब्रह्मविद्या से वृत्रवध के साहचर्य से नारायण-कवच कहा गया है। हयग्रीव शब्द से अश्वशिरा दधीचि लिये गये। उन्होंने ही नारायण-कवच नामक ब्रह्म-विद्या का प्रकाश किया। उन्हें अश्वशिरा नाम से छठे स्कन्ध में सम्बोधित किया गया है। वह निश्चय ही अश्वशिरा नाम से प्रसिद्ध हैं। नारायण-कवच का ब्रह्म-विद्यात्व भी प्रसिद्ध है। यह सुनकर आथर्वणिक दधीचि प्राणविद्या, ब्रह्मविद्या को उन्होंने मिथ्याभिशाप की शङ्का से शङ्कित होकर कहा। यह टीका के उपस्थित वचन से प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवत भगवान् भगवत्प्रिय तथा वैष्णवों का अभीष्ट होने के कारण परम सात्विक है। जैसा कि पद्मपुराण में—अम्बरीष के प्रति गौतम का प्रश्न है—"हे राजन्! दैत्यराज प्रह्लाद का जिसमें चरित्र है। उस भागवत को तुम भगवान् के आगे पढ़ते हो।" वहीं पर वञ्जुली माहात्म्य में अम्बरीष को गौतम का

उपदेश है—"रात्रि में जागरण करना चाहिये, वैष्णवी-कथा सुननी चाहिये। गीता-सहस्रनाम, श्रीशुक के द्वारा कथित पुराण का पाठ भगवान् की सन्तुष्टि के लिये पाठ करना चाहिये।" वहीं आगे—"हे अम्बरीष ! शुकप्रोक्त भागवत को सदा सुनो। यदि संसार के बन्धन का नाश करना चाहो तो अपने मुख से स्वयं पढ़ो।" स्कन्द पुराण की प्रह्लाद-संहिता के द्वारका माहात्म्य में—"जो भगवान् के समीप श्रीमद्भागवत का पाठ करता है, रात्रि जागरण करता है वह अपने वंश के साथ भगवत्पद को प्राप्त करता है" ॥२०॥

गारुडे च ;—

"पूर्णः सोऽयमतिशयः।
अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ-विनिर्णयः॥
गायत्री-भाष्यरूपोऽसौ वेदार्थ-परिबृंहितः।
पुराणानां सामरूपः साक्षाद्भगवतोदितः॥
द्वादशस्कन्धयुक्तोऽयं शतविच्छेद-संयुतः।
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः॥" इति।

ब्रह्मसूत्राणामर्थस्तेषामकृत्रिम-भाष्यभूत इत्यर्थः। पूर्वं सूक्ष्मत्वेन मनस्याविर्भूतम्, * तदेव संक्षिप्य सूत्रत्वेन पुनः प्रकटितम्, पश्चाद्विस्तीर्णत्वेन साक्षात् श्रीभागवतमिति। तस्मात्तद्भाष्यभूते

* "आविर्भावितम्" इति वा पाठः।

स्वतःसिद्धे तस्मिन् सत्यर्व्वाचीनमन्यदन्येषां † स्वस्वकपोल-कल्पितं तदनुगतमेवादरणीयमिति गम्यते ।

"भारतार्थविनिर्णयः—

निर्णयः सर्व्वशास्त्राणां भारतं परिकीर्त्तितम् ॥
भारतं सर्व्ववेदाश्च तुलामारोपिताः पुरा ।
देवैर्ब्रह्मादिभिः सर्व्वैरृषिभिश्च समन्वितैः ॥
व्यासस्यैवाज्ञया तत्र त्वत्यरिच्यत भारतम् ।
महत्त्वाद्भारवत्त्वाच्च ‡ महाभारतमुच्यते ॥"—

इत्याद्युक्तलक्षणस्य भारतस्यार्थ-विनिर्णयो यत्र सः । श्रीभगवत्येव तात्पर्य्यं हि तस्यापि । तदुक्तं मोक्षधर्मे नारायणीये श्रीवेदव्यासं प्रति जनमेजयेन ;—

"इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यान-विस्तरात् ।
आमथ्य मतिमन्थेन ज्ञानोदधिमनुत्तमम् ॥
नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा ।
आरण्यं सर्व्ववेदेभ्य ओषधीभ्योऽमृतं यथा ॥
समुद्धृतमिदं ब्रह्मन् ! कथामृतमिदं तथा ।
तपोनिधे ! त्वयोक्तं हि नारायण-कथाश्रयम् ॥" इति ॥२१॥

† "अन्यदन्येषां" इत्यत्र "अन्यदन्यद्भाष्यं" क्वचित् ।

‡ "भारतत्वात्" इति श्रीगोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः पाठः ।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

गारुड़वचनैश्च परमसात्त्विकत्वं व्यञ्जयन् ब्रसूत्राद्यर्थ-निर्णायकत्वं गुणमाह ;—अर्थोऽयमिति। गारुड़वाक्यपदादि व्याचष्टे—ब्रह्मसूत्राणामित्यादिना। तस्मात्तद्भाष्येत्यादि,—अन्यद् वैष्णवाचार्य्य-रचितमाधुनिकं भाष्यं तदनुगतं श्रीभागवतंविरुद्धमेवादत्त व्यं, तद्विरुद्धं शङ्करभट्ट-भास्करादि-रचितं तु हेयमित्यर्थः। भारतार्थेति पदं व्याकुर्व्वन् भारत-वाक्येनैव भारतस्वरूपं दर्शयति ;—निर्णयः सर्व्वेति। भारतं किं तात्पर्य्यकमित्याह ;—श्रीभगवत्येवेति, तस्य भारतस्यापीत्यर्थः। भारतस्य भगवत्तात्पर्य्यकत्वे नारायणीय-वाक्यमुदाहरति ;—इदं शतेत्यादि ॥२१॥

हिन्दीटीका

गरुड़पुराण में—"यह अत्यन्त पूर्ण है, यह ब्रह्मसूत्रों का अर्थ है, भारत के अर्थ का निर्णय है, गायत्री का भाष्यभूत यह वेदों के अर्थ से परिवृंहित है। पुराणों का यह सामरूप (साक्षात् विभूति) है तथा साक्षात् भगवान् ने कहा है। १२ स्कन्धों से युक्त तथा १०० विच्छेदों सहित अठारह हजार संख्यक श्रीमद्भागवत ग्रन्थ है।" ब्रह्मसूत्रों का यह स्वाभाविक भाष्य है। पूर्व में सूक्ष्म रूप से मन में आविर्भूत हुआ। पुनः संक्षिप्त कर सूत्र रूप में प्रकट हुआ। अनन्तर विस्तार सहित श्रीमद्भागवत है। अतः ब्रह्मसूत्रों के स्वतःसिद्ध भाष्य भागवत के अनुगत, पश्चात् रचित भाष्य वैष्णवाचार्यों के आदरणीय हैं। उसके विरुद्ध हेय है। भारतार्थ-विनिर्णय का अभिप्राय यह है कि "सकल शास्त्रों का निर्णय महाभारत है। अतः ब्रह्मादि देवता तथा सब ऋषियों ने

तराजू के एक पलड़े में सब वेदों को तथा दूसरे पलड़े में भारत को तौला, तो बड़ा एवं भारी होने के कारण महाभारत कहलाया। उस महाभारत का भी जिसमें अर्थ निर्णय है, उसका नाम भागवत है। मोक्षधर्म नारायणीय में श्रीव्यास के प्रति जनमेजय ने कहा—"यह एक लाख विस्तृत भारत आख्यान से बुद्धिरूपी मन्थनी से श्रेष्ठ ज्ञान रूपी समुद्र को मन्थन कर जैसे दही से मक्खन, मलय से चन्दन, सब वेदों से आरण्यक, ओषधियों से अमृत उद्धृत हुआ उसी प्रकार हे तपोनिधे ! नारायण-कथा श्रीमद्भागवत को आपने प्रकट किया है" ॥२१॥

तथा च तृतीये ;—

"मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां सखापि ते भारतमाह कृष्णः।
यस्मिन्नृणां ग्राम्य-कथानुवादैर्मतिर्गृहीता नु हरेः कथायाम् ॥"

[भाग० ३. ५. १२.] इति।

तस्मात्* गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ—तथैव हि विष्णुधर्मोत्तरादौ तद्व्याख्याने भगवानेव विस्तरेण प्रतिपादितः। अत्र "जन्माद्यस्य" इत्यस्य व्याख्यानञ्च तथा दर्शयिष्यते। वेदार्थ-परिबृंहितः—वेदार्थस्य परिबृंहणं यस्मात्। तच्चोक्तम् ;—"इतिहास-

* "तस्मात्" इति पाठः क्वचिन्नास्ति।

पुराणाभ्याम्" इत्यादि । पुराणानां सामरूपः—वेदेषु सामवत् स तेषु श्रेष्ठ इत्यर्थः । अतएव स्कान्दे ;—

"शतशोऽथ सहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
न यस्य तिष्ठते गेहे शास्त्रं भागवतं कलौ ॥
कथं स वैष्णवो ज्ञेयः शास्त्रं भागवतं कलौ* ।
गृहे न तिष्ठते यस्य स विप्रः श्वपचाधमः ॥
यत्र यत्र भवेद्विप्र ! शास्त्रं भागवतं कलौ ।
तत्र तत्र हरिर्याति त्रिदशैः सह नारद !
यः पठेत् प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं मुने !
अष्टादशपुराणानां फलं प्राप्नोति मानवः ॥" इति ।

शतविच्छेदसंयुतः—पञ्चत्रिंशदधिकशतत्रयाध्यायविशिष्ट इत्यर्थः, स्पष्टार्थमन्यत् । तदेवं परमार्थविवित्सुभिः श्रीभागवतमेव साम्प्रतं विचारणीयमिति स्थितम् ।

(हेमाद्रेव्रतखण्डे—

स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
कर्म्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥"

इति वाक्यं श्रीभागवतीयत्वेनोत्थाप्य भारतस्य वेदार्थ-तुल्यत्वेन निर्णयः कृत इति तन्मतानुसारेण त्वेवं व्याख्येयं ;—भारतार्थस्य

* "विना" इति वा पाठः ।

विनिर्णयः—वेदार्थ-तुल्यत्वेन विशिष्य निर्णयो यत्रेति। यस्मादेवं भगवत्परस्तस्मादेव "यत्राधिकृत्य गायत्रीम्"—इति कृतलक्षण-श्रीमद्भागवतनामा ग्रन्थः श्रीभगवत्पराया गायत्र्या भाष्यरूपोऽसौ।

तदुक्तं—"यत्राधिकृत्य गायत्रीम्"—इत्यादि। तथैव हि अग्निपुराणे तस्य व्याख्याने विस्तरेण प्रतिपादितः। तत्र तदीयव्याख्या दिग्दर्शनं यथा ;—

"तज्ज्योतिः परमं ब्रह्म भर्गस्तेजो यतः स्मृतः।"

इत्यारभ्य पुनराह ;—

"तज्ज्योतिर्भगवान् विष्णुर्जगज्जन्मादिकारणम्।
शिवं केचित् पठन्ति स्म शक्तिरूपं वदन्ति च।
केचित् सूर्य्यं केचिदग्निं देवतान्यग्निहोत्रिणः।
अग्न्यादिरूपी विष्णुर्हि वेदादौ ब्रह्म गीयते॥" इति।

अत्र "जन्माद्यस्य" इत्यस्य व्याख्यानञ्च तथा दर्शयिष्यते। "कस्मै येन विभाषितोऽयम्" इत्युपसंहारवाक्ये च "तच्छुद्धम्" इत्यादि-समानमेवाग्निपुराणे तद्व्याख्यानम्।

"नित्यं शुद्धं परं ब्रह्म नित्यभर्गमधीश्वरम्।
अहं ज्योतिः परं ब्रह्म ध्यायेम हि विमुक्तये॥" इति।

तत्राहं ब्रह्मेति—"नादेवो देवमर्च्चयेत्" इति न्यायेन योग्यत्वाय स्वस्य तादृक्त्वभावना दर्शिता। ध्यायेमेति—अहं तावत् ध्यायेयं, सर्व्वे च वयं ध्यायेमेत्यर्थः। तदेतन्मते तु मन्त्रेऽपि भर्गशब्दोऽयमदन्त एव स्यात्। "सुपां सुलुक्" इत्यादिना छान्दससूत्रेण तु द्वितीयैकवचनस्य 'अमः' 'सु'-भावो ज्ञेयः।

यत्तु द्वादशे—"ॐ नमस्ते" इत्यादिगद्येषु तदर्थत्वेन सूर्य्यः स्तुतः, तत्परमात्म-दृष्ट्यैव ; न तु स्वातन्त्र्येणेत्यदोषः। यथैवाग्रे श्रीशौनक-वाक्यम् ;—

"ब्रूहि नः श्रद्दधानानां व्यूहं सूर्य्यात्मनो हरेः।" इति।

न चास्य भर्गस्य सूर्य्यमण्डलमात्राधिष्ठानत्वम्। मन्त्रे वरेण्यशब्देनात्र च ग्रन्थे परशब्देन परमैश्वर्यपर्यन्तताया दर्शितत्वात्। तदेवमग्निपुराणेऽप्युक्तम्—

"ध्यानेन पुरुषोयञ्च द्रष्टव्यः सूर्य्य-मण्डले।
सत्यं सदाशिवं ब्रह्म तद्विष्णोः परमं पदम्॥" इति।

त्रिलोकीजनानामुपासनार्थं प्रलयविनाशिनि सूर्य्यमण्डले चान्तर्य्यामितया प्रादुर्भूतोऽयं पुरुषो ध्यानेन द्रष्टव्यः—

उपासितव्यः। यत्तु विष्णोस्तस्य महावैकुण्ठरूपं परमं पदं तदेव सत्यं—कालत्रयाव्यभिचारि, सदाशिवं—उपद्रवशून्यं, यतो ब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः। तदेतद्‌गायत्रीं प्रोच्य पुराणलक्षण-प्रकरणे यत्राधिकृत्य गायत्रीमित्याद्यप्युक्तमग्निपुराणे। तस्मात् ;—

"अग्नेः पुराणं गायत्रीं समेत्य * भगवत्पराम्।
भगवन्तं तत्र मत्वा जगज्जन्मादि-कारणम्॥
यत्राधिकृत्य गायत्रीमिति लक्षणपूर्व्वकम्।
श्रीमद्‌भागवतं शश्वत् पृथ्व्यां जयति सर्व्वतः॥"

तदेवमस्य शास्त्रस्य गायत्रीमधिकृत्य प्रवृत्तिर्दर्शिता। यत्तु सारस्वतकल्पमधिकृत्येति पूर्व्वमुक्तं तच्च गायत्र्या भगवत्प्रतिपादकवाग्विशेषरूपसरस्वतीत्वादुपयुक्तमेव। यदुक्तमग्निपुराणे ;—

"गायत्युक्थानि शास्त्राणि भर्गं प्राणांस्तथैव च।
ततः स्मृतेयं गायत्री सावित्री यत एव च॥
प्रकाशनी सा सवितुर्वाग्‌रूपत्वात् सरस्वती।" इति।

अथक्रमप्राप्ता व्याख्या ;—

वेदार्थपरिबृंहित इति—वेदार्थानां परिबृंहणं यस्मात्, तच्चोमितिहासपुराणाभ्यामिति। पुराणानां सामरूप इति—वेदेषु

*"सम्मत्य" इति पाठः श्रीगोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः।

सामवत्पुराणेषु श्रेष्ठ इत्यर्थः। पुराणान्तराणां केषाञ्चिदापाततो रजस्तमसी जुषमाणैस्तत्परत्वाप्रतीतत्वेऽपि वेदानां काण्डत्रयवाक्यैकवाक्यतायां * यथा साम्ना तथा तेषां श्रीभागवतेन प्रतिपाद्ये श्रीभगवत्येव पर्यवसानमिति भावः।

तदुक्तम् ;—

"वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्व्वत्र गीयते॥" इति।

प्रतिपादयिष्यते च तदिदं परमात्मसन्दर्भे। साक्षाद्भगवतोदित इति ;—'कस्मै येन विभाषितोऽयं' इत्युपसंहारवाक्यानुसारे ज्ञेयम्। शतविच्छेदसंयुत इति—विस्तरभिया न विव्रियते। तदेवं श्रीमद्भागवतं सर्व्वशास्त्रचक्रवर्त्तिपदमाप्तमिति स्थिते 'हेमसिंहसमन्वितम्' इत्यत्र हेमसिंहासनारूढमिति टीकाकारैर्यद्व्याख्यातं तदेव युक्तम्।

अतः श्रीमद्भागवतस्यैवाभ्यासावश्यकत्वं † श्रेष्ठत्वञ्च स्कान्दे निर्णीतम् ;—

"शतशोथसहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।"

× × × ×

* "काण्डत्रयवाक्यतायां" इति पाठः श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्य-सम्मतः।

† "अत्यावश्यकत्वं" इति श्रीगोस्वामिभट्टाचार्य्य-सम्मतः।

तदेवं परमार्थं विवित्सुभिः श्रीभागवतमेव साम्प्रतं विचारणीयमिति स्थितम् *) ॥२२॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

ननु श्रीभागवतस्य भारतार्थ-निर्णायकत्वं कथं प्रतीतमिति चेत्तत्राह ; तथा तृतीये इति। मुनिरिति—मैत्रेयं प्रति विदुरोक्तिः। ते—मैत्रेयस्य गुरुपुत्रत्वात् सखा, कृष्णो—व्यासः। ग्राम्या—गृहिधर्म्म-कर्त्तव्यतादि-लक्षणा व्यवहारिकी मूषिक-बिडाल-गृध्र-गोमायु—दृष्टान्तोपेता च कथा। तत्तत्स्वार्थ-कौतुककथा-श्रवणाय भारत-सदसि समागतानां नृणां श्रीगीतादिश्रवणेन हरौ मतिर्गृहीता स्यादिति तत्कथानुवाद एव, वस्तुतो भगवत्परमेव भारतमिति श्रीभागवतेन निर्णीतमित्यर्थः। सामवेदवदस्य श्रैष्ठ्ये स्कान्दवाक्यम्—शतशोऽथेत्यादि,—प्रकटार्थमिति। तदेवमिति—उक्तगुणगणे सिद्धे सतीत्यर्थः॥ २२॥

हिन्दीटीका

तृतीय स्कन्ध में—श्रीव्यास मुनि आपके मित्र ने भगवद् गुणों में अभिनिवेश करने की इच्छा से भारत ग्रन्थ की रचना की। जिसमें

*( )—एतद्बन्धनीमध्यस्थितो मूलांशस्तु कस्मिंश्चित् हस्तलिखितप्राचीन-पुस्तके बहरमपुरमुद्रितसन्दर्भे च दृष्टः, व्याख्यातश्च श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्यैः, अतोऽस्माभिरत्र मूले सन्निवेशितः। नायं क्वचित् क्वचित् पाश्चात्यपुस्तकेष्वसद्भावादयमुपेक्षणीयः, एतदंशोक्ताग्निपुराणवचनानां च—"एवमग्निपुराणे गायत्र्यर्थः श्रीभगवानेवाभिमतः, तद्वचनानि तत्त्वसन्दर्भे दृश्यानि" इत्यनेनैतद्ग्रन्थकृद्भिः श्रीमज्जीवगोस्वामिचरणैः क्रम-सन्दर्भेऽङ्गीकृतत्वात् सुतरामादरणीय एव।

लोक-कथाओं से भागवत गाथाओं की ओर मनुष्यों की बुद्धि को आकृष्ट किया। अतः गायत्री भाष्य रूप यह है। वैसा ही विष्णुधर्मोत्तरादि एवं उसके व्याख्यान में भगवान् विस्तार से प्रतिपादित हुए। यहाँ 'जन्माद्यस्य' की व्याख्या इस प्रकार दिखायेंगे जिससे वेदार्थ का परिवर्द्धन स्पष्ट हो अर्थात् वेद के अर्थ का परिवर्द्धन है जिससे यह अर्थ अभीष्ट है। वहीं कहा गया—इतिहास पुराणों से वेद का परिवर्द्धन करें। अतः स्कन्दपुराण में, श्रीमद्भागवत का अभ्यास आवश्यक एवं श्रेष्ठ है, का निर्णय किया गया है—सैकड़ों, हजारों शास्त्रों के संग्रह से क्या प्रयोजन? कलिकाल में जिसके भवन में श्रीमद्भागवत नहीं, तो कुछ नहीं। उसे कैसे वैष्णव माना जाय, जिसके घर में भागवत नहीं है। वह ब्राह्मण चाण्डाल से भी अधिक अधम है, जिसके घर में भागवत न हो। हे विप्र! जहाँ-जहाँ कलियुग में भागवत शास्त्र की चर्चा होती है, वहाँ-वहाँ श्रीहरि देवताओं के साथ जाते हैं। जो कोई नित्य पवित्र होकर श्रीमद्भागवत का श्लोक पाठ करता है, वह मनुष्य १८ पुराणों का फल प्राप्त करता है। शैलविच्छेद का अर्थ यह है कि ३३५ अध्याययुक्त श्रीभागवत है। अतः परमार्थवेत्ताओं को श्रीमद्भागवत ही विचारणीय है, यह निश्चित हुआ ॥ २२ ॥

अतएव सत्स्वपि नानाशास्त्रे ष्वेतदेवोक्तम् ;—

"कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥"

[भा० १. ३. [illegible]] इति ।

अर्कतारूपकेण तद्विना नान्येषां सम्यग्वस्तु प्रकाशकत्वमिति प्रतिपाद्यते । यस्यैव श्रीमद्भागवतस्य भाष्यभूतं श्रीहयशीर्ष-पञ्चरात्रे शास्त्रप्रस्तावे गणितं तन्त्रभागवताभिधं तन्त्रम् । यस्य साक्षात् श्रीहनूमद्भाष्य-वासनाभाष्य-सम्बन्धोक्ति-विद्वत्कामधेनु-तत्त्वदीपिका-भावार्थदीपिका-परमहंसप्रिया-शुकहृदयादयो व्याख्या-ग्रन्थाः तथा मुक्ताफल-हरिलीला-भक्तिरत्नावल्यादयो निबन्धाश्च विविधा एव तत्तन्मतप्रसिद्ध-महानुभावकृता विराजन्ते । यदेव च हेमाद्रि-ग्रन्थस्य दानखण्डे पुराणदानप्रस्तावे मत्स्यपुराणीय-तल्लक्षणधृत्या प्रशस्तम् । हेमाद्रिपरिशेषखण्डस्य कालनिर्णये च कलियुगधर्मनिर्णये, "कलिं सभाजयन्त्यार्य्याः"—इत्यादिकं यद्वाक्यत्वेनोत्थाप्य यत्प्रतिपादितधर्म एव कलावङ्गीकृतः । अथ यदेव कैवल्यमप्यतिक्रम्य भक्तिसुखव्याहारादिलिङ्गेन निज-मतस्याप्युपरि विराजमानार्थं मत्वा यदपौरुषेयं वेदान्तव्याख्यानं भयादचालयतैव शङ्करावतारतया प्रसिद्धेन वक्ष्यमाण-स्वगोपन-नादिहेतुक-भगवदाज्ञाप्रवर्त्तिताद्वयवादेनापि तन्मात्र*-वर्णितविश्व-रूपदर्शनकृतव्रजेश्वरीविस्मय—श्रीव्रजकुमारी—वसनचौर्य्यादिकं गोविन्दाष्टकादौ वर्णयता तटस्थीभूय निजवचः साफल्याय स्पृष्टमिति ॥२३॥

* "तन्महापुराणमात्र" इति पाठस्तु बहुत्र ।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

अतएवेति ;—वर्णितलक्षणादुत्कर्षादेव हेतोरित्यर्थः। पुरातनाना-मृषीणामाधुनिकानाञ्च विद्वत्तमानामुपादेयमिदं श्रीभागवतमित्याह ;—यस्यैवेति। विराजन्ते—सम्प्रति प्रचरन्तीत्यर्थः। धर्म्मशास्त्रकृताञ्चोपा-देयमेतदित्याह ;—यदेव च हेमाद्रीत्यादि। तत्प्रतिपादितो धर्म्मः कृष्ण-सङ्कीर्त्तनलक्षणः। ननु चेदीदृशं श्रीभागवतं, तर्हि शङ्कराचार्य्यः कुतस्तन्न व्याचष्टेति चेत्तत्राह ;—अथ यदेव कैवल्यमित्यादि। अयं भावः—प्रलयाधिकारी खलु हरेर्भक्तोऽहमुपनिषदादि व्याख्याय तत्सिद्धान्तं विलाप्य तस्याज्ञां पालितवानेवास्मि। अथ तदतिप्रिये श्रीभागवतेऽपि चालिते स प्रभुर्मयि कुप्येदतो न तच्चाल्यम्, एवं सति मे सारज्ञता सुखसम्पच्च न स्यादतः कथञ्चित्तत् स्पर्शनीयमिति तन्मात्रोक्तं विश्वरूप-दर्शनादि स्वकाव्ये निबबन्धेति तेन चादृतं तदिति सर्व्वमान्यं श्रीभाग-वतमिति ॥ २३ ॥

हिन्दीटीका

अतएव अनेक शास्त्रों के वर्त्तमान रहने पर यह कहा गया, "कलियुग में नष्ट दृष्टि पुरुषों के लिये यह श्रीभागवतपुराणसूर्य उदय हुआ" सूर्य के बिना अन्य वस्तु का यथार्थ में प्रकाश कैसे हो यह प्रतिपादित किया। हयशीर्षपञ्चरात्र के शास्त्र-प्रस्ताव में श्रीमद्भागवत भाष्य का तन्त्रभागवत नामक तन्त्र गिना गया। जिसके हनुमद्-भाष्य, वासनाभाष्य सम्बन्धोक्ति, विद्वत्कामधेनु, तत्त्वदीपिका, भावार्थ-दीपिका, परमहंसप्रिया, शुकहृदय आदि व्याख्या ग्रन्थ एवं मुक्ताफल,

हरिलीला, भक्तिरत्नावली, आदि विविध निबन्ध अपने मत में सुप्रसिद्ध महानुभावों द्वारा रचित विद्यमान हैं। जो कि हेमाद्रिग्रन्थ के दान-खण्ड में पुराणदान प्रस्ताव में मत्स्यपुराण का वचन उद्धृत कर प्रशंसा की गई। हेमाद्रिपरिशेष खण्ड के कालनिर्णय एवं कलियुग-धर्म-निर्णय में "श्रेष्ठजन कलि का सम्मान करते हैं" इत्यादि वाक्यों को उद्धृत कर श्रीभागवत प्रतिपादित श्रीकृष्ण-संकीर्तन-धर्म ही कलिधर्म स्वीकार किया। इस प्रकार मुक्ति को भी तुच्छ करनेवाले भक्ति-सुख को कहकर जो कि उनके निज मत से भी ऊपर विराजमान भक्ति अर्थ को जानकर अपौरुषेय वेदान्त के व्याख्यान को भगवद् भय से उसे न हटाकर प्रसिद्ध शङ्करावतार ने अपने को छिपाने के लिए भगवान् की आज्ञा से अद्वैत मत का प्रचार किया। किन्तु स्वयं तटस्थ होकर श्रीशङ्कर ने अपने गोविन्दाष्टक में, विश्वरूपदर्शन से श्रीयशोदा का आश्चर्य, व्रजकुमारियों के वस्त्र-हरण वर्णन कर अपनी वाणी की सफलता की ॥ २३ ॥

यदेव किल दृष्ट्वा श्रीमध्वाचार्य्यचरणैर्वैष्णवान्तराणां तच्छिष्यान्तरपुण्यारण्यादिरीतिकव्याख्याप्रवेशशङ्कया तत्र तात्पर्य्यान्तरलिखद्भिर्वर्त्मोपदेशः कृत इति च सात्वता वर्णयन्ति । तस्माद्युक्तमुक्तं तत्रैव प्रथमस्कन्धे ;—

"तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां * वरम् ।
सर्व्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ॥"
[भा० १. ४. ४१.]

* "आत्मविदां" इति पाठः श्रीगोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः ।

द्वादशे ;—

"सर्व्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥"

[भा० १२. १२. १५.]

तथा प्रथमे ;—

"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥"

[भा० १. १. ३.]

अतएव अत्रैव ;—

"यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक-
मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।
संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं
तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥" इति ।

[भा० १. २. ३.]

श्रीभागवतमतं तु सर्व्वमतानामधीशरूपमिति सूचकम् । सर्व्वमुनीनां सभामध्यमध्यास्य उपदेष्टृत्वेन तेषां गुरुत्वमपि तस्य तत्र सुव्यक्तम् ॥ २४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

श्रीमध्वमुनेस्तु परमोपास्यं श्रीभागवतमित्याह ;—यदेव किलेति, शङ्करेण नैतद्विचालितं किन्त्वादृतमेवेति विभाव्येत्यर्थः। किन्तु तच्छिष्यैः पुण्यारण्यादिभिरेतदन्यथा व्याख्यातं, तेन वैष्णवानां निर्गुणचिन्मात्रपरमिदमिति भ्रान्तिः स्यादिति शङ्कया हेतुना तद्भ्रान्तिच्छेदाय तत्र तात्पर्य्यान्तरं भगवत्परतारूपं ततोऽन्यत्तात्पर्य्यं लिखद्भिस्तस्य व्याख्यानवर्त्मोपदिष्टं वैष्णवान् प्रतीति। मध्वाचार्य्यचरणैरिति—अत्यादरसूचकबहुत्वनिर्द्देशः, स्वपूर्व्वाचार्य्यत्वादिति बोध्यम्। वायुदेवः खलु मध्वमुनिः सर्व्वज्ञोऽतिविक्रमी यो दिग्विजयिनं चतुर्द्दशविद्यं चतुर्द्दशभिः क्षणैर्निजित्यासनानि तस्य चतुर्द्दश जग्राह, सच तच्छिष्यः पद्मनाभाभिधानो बभूवेति प्रसिद्धम्। तस्मादिति—प्रोक्तगुणकत्त्वाद्धेतोरित्यर्थः। आलयमिति—मोक्षमभिव्याप्येत्यर्थः। य इति—अन्धं तमोऽविद्याम् अतितितीर्षतां संसारिणां करुणया यः पुराणगुह्यं श्रीभागवतमाहेत्यन्वयः। स्वानुभावम्—असाधारणप्रभावमित्यर्थः ॥२४॥

हिन्दीटीका

श्रीमध्वाचार्य ने देखा कि अन्य वैष्णव शङ्कर के शिष्य पुण्यारण्य आदि की व्याख्या से भ्रान्ति में न पड़ जायँ, अतः उन्होंने भाष्य रचनाकर मार्ग प्रदर्शन किया—ऐसा भक्तों का मत है। अतः प्रथमस्कन्ध में तथ्यतः लिखा—"आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ अपनेपुत्र श्रीशुक को समस्त वेद एवं इतिहासों का सार ग्रहण कर व्यासजी ने पढ़ाया। द्वादशस्कन्ध में—सम्पूर्ण वेदान्त का सार श्रीभागवत है। जो इस

रसामृत से तृप्त हैं उनकी अन्यत्र रति नहीं हो सकेगी। **प्रथम स्कन्ध में** —"वेदरूपी कल्प-वृक्ष का परिपक्व फल श्रीशुक के मुख से प्रदान किया गया अमृत-रस से पूर्ण है। हे भूलोक के भावुक रसिको! आप इस भागवत का आमरण आस्वादन करते रहो।" अतएव वहीं पर अविद्या के अन्धकार में पतित सांसारिक जीवों पर कृपा करके सम्पूर्ण वेदों का सार असाधारण प्रभाव अध्यात्मज्ञान का एकमात्र प्रदीप परमगुप्त श्रीभागवत को प्रकाशित किया उन श्रीव्यास पुत्र ने, जो कि मुनियों के गुरु हैं उनकी शरण में प्राप्त हों ॥ २४ ॥

यतः ;—

"तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना महानुभावाः मुनयः सशिष्याः।
प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ॥
अत्रिर्वशिष्ठश्च्यवनः शरद्वानरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च।
पराशरो गाधिसुतोऽथ राम उतथ्य इन्द्रप्रमदेध्मवाहौ ॥
मेधातिथिर्देवल आर्ष्टिषेणो भरद्वाजो गौतमः पिप्पलादः।
मैत्रेय और्व्वः कवषः कुम्भयोनिर्द्वैपायनो भगवान्नारदश्च ॥
अन्ये च देवर्षिब्रह्मर्षिवर्य्या राजर्षिवर्य्या अरुणादयश्च।
नानार्षेयप्रवरान् समेतानभ्यर्च्य राजा शिरसा ववन्दे ॥
सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः कृतप्रणामः स्वचिकीर्षितं यत्।
विज्ञापयामास विविक्तचेता उपस्थितोऽग्रे निगृहीतपाणिः ॥"

[भा० १. १६. १२.]

इत्याद्यनन्तरम् ;—

"ततश्च वः पृच्छ्यमिदं विपृच्छे विश्रभ्य विप्रा इति कृत्यतायाम् ।
सर्व्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यं शुद्धञ्च तत्रामृशताभियुक्ताः ॥"

[भा० १. १६. २४.]

इति पृच्छति राज्ञि ;—

"तत्राभवद्भगवान् व्यासपुत्रो यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः ।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो वृतश्च बालैरवधूतवेषः ॥"

[भा० १. १६. २५.]

ततश्च ;—

"प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यः ।" [भा० १. १६. २८.]

इत्याद्यन्ते ;—

"स संवृतस्तत्र महान्महीयसां ब्रह्मर्षि-राजर्षि-सुरर्षिवर्य्यैः ।
व्यरोचतालं भगवान् यथेन्दुर्ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः ॥"

[भा० १०. १६. ३.] इत्युक्तम् ॥ २५ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

मुनीनां गुरुमित्युक्तं, तत् कथमित्यत्राह—यत इति,—यत इत्यस्य इत्युक्तमिति परेण सम्बन्धः। और्व इति—विप्रवंशं विनाशयद्भ्यो दुष्टेभ्यः क्षत्रियेभ्यो भयाद्गर्भादाकृष्योरौ तन्मात्रा स्थापितस्ततो जातः क्षत्रियांस्तान् स्वेन तेजसा भस्मी चकार इति भारते कथास्ति। निगृहीत-

पाणि :—योजिताञ्जलिपुटः। एवं कर्त्तव्यस्य भावः—इतिकर्त्तव्यता तस्यां विषये सर्व्वावस्थायां पुंसः किं कृत्यं, तत्रापि म्रियमाणैश्च किं कृत्यं, तच्च शुद्धं हिंसाशून्यं तत्रामृशत यूयम्। गां—पृथिवीम्। अनपेक्षः—निस्पृहः। निजस्य—शुद्धिपूर्त्तिकर्तुः स्वस्वामिनः कृष्णस्य लाभेव तुष्टः। तत्र—सभायाम्॥ २५॥

हिन्दीटीका

क्योंकि वहाँ संसार को पवित्र करनेवाले शिष्यों के सहित महानुभाव मुनिगण पहुँचे। प्रायः तीर्थाटन के बहाने से स्वयं सन्तगण तीर्थों को पवित्र करते हैं। अत्रि, वशिष्ठ, च्यवन, शरद्वान्, अरिष्टनेमि, भृगु, अङ्गिरा, पराशर, विश्वामित्र, राम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, इध्मवाह, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिषेण, भारद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, अगस्त्य, व्यास, नारद आदि तथा अन्य देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, अरुणादि अनेक समस्त ऋषिप्रवरों की, राजा परीक्षित् ने पूजा की; तथा नतमस्तक होकर प्रणाम किया। जब सभी सुखपूर्वक आसन ग्रहण कर चुके तब पुनः प्रणामकर राजा ने करबद्ध होकर शान्तचित्त से सम्मुख उपस्थित होकर अपना अभिप्राय निवेदन किया। तदनन्तर राजा ने कहा—"हे विप्रगण! सर्वथा मरनेवाले के लिये क्या कर्त्तव्य होना चाहिये।" इस प्रकार राजा के प्रश्न पर वहाँ अनायास बालकों के साथ अवधूत वेष में भ्रमण करते हुए श्रीकृष्णलाभ से सन्तुष्ट परिचयशून्य श्रीव्यासपुत्र श्रीशुक उपस्थित हुए। उनको देखकर समस्त मुनिगण अपने आसन से उठे, पुनश्च वे ब्रह्मर्षि, राजर्षि, देवर्षि

से व्याप्त तारागण में चन्द्रमा के तुल्य सुशोभित हुए। ऐसा वर्णन किया गया है॥ २५॥

अत्र यद्यपि तत्र श्रीव्यास-नारदौ तस्यापि गुरु-परमगुरू तथापि पुनस्तन्मुखनिःसृतं श्रीभागवतं तयोरप्यश्रुतचरमिव जातमित्येवं श्रीशुकस्तावप्युपदिदेश देश्यमित्यभिप्रायः।

* यदुक्तम्; "शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्" इति।

तस्मादेवमपि श्रीभागवतस्यैव सर्व्वाधिक्यम्। मात्स्यादीनां † यत् पुराणाधिक्यं श्रूयते तत्वापेक्षिकमिति। अहो किं बहुना? श्रीकृष्ण-प्रतिनिधि-रूपमेवेदम्। यत उक्तं प्रथम स्कन्धे;—

"कृष्णे स्वधामोपगते धर्म्मज्ञानादिभिः सह।
कलौनष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः॥"
[भा. १. ३. ४५.] इति।

अतएव सर्व्वगुणयुक्तत्वमस्यैव दृष्टं, "धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र" इत्यादिना,—

"वेदाः पुराणं काव्यं च प्रभुर्मित्रं प्रियेव च।
बोधयन्तीति हि प्राहुस्त्रिवृद्भागवतं पुनः॥"

इति मुक्ताफले हेमाद्रिवचनेन च ‡।

* "तदुक्तम्" इति वा पाठः।

† अत्र "तु" इत्यधिकपाठः क्वचित्।

‡ "हेमाद्रिकारस्य वचनेन च" इति गोस्वामिभट्टाचार्यधृतः पाठः।

तस्मान्मन्यन्तां वा केचित् पुराणान्तरेषु वेदसापेक्षत्वं, श्रीभागवते तु तथा सम्भावना स्वयमेव निरस्तेत्यपि* स्वयमेव लब्धं भवति। अतएव परमश्रुतिरूपत्वं तस्य। यथोक्तम् ;—

"कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह।
सम्वादः समभूत् तात ! यत्रैषा सात्वती श्रुतिः॥"

[भा० १.४.७] इति।

अथ यत् खलु सर्व्वं पुराणजातमाविर्भाव्येत्यादिकं पूर्व्वमुक्तं तत्तु प्रथमस्कन्धगत-श्रीव्यासनारदसम्वादेनैव प्रमेयम् ॥२६॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

वक्तव्यं योजयत्यत्र यद्यपीत्यादिना। तस्मादेवमिति,—तद्वक्तुः—श्रीशुकस्य सर्व्वगुरुत्वेनापीत्यर्थः। आपेक्षिकमिति—एतदन्यपुराणापेक्षयेत्यर्थः। अथ परमोत्कर्षमाह—अहो किमिति। अतएवेति—कृष्णप्रतिनिधित्वात् कृष्णवत् सर्व्वगुणयुक्तमित्यर्थः। प्रियेव—कान्तेव। त्रिवृत्–वेदादित्रयगुणयुक्तमित्यर्थः। तस्मादिति, वेदसापेक्षत्वं–वेदवाक्येन पुराणप्रामाण्यमित्यर्थः। अतएवेति—परमार्थावेदकत्वाद्-वेदान्तस्येव भागवतस्य परमश्रुतिरूपत्वमित्यर्थः। यत्र—संवादे। सात्वती–वैष्णवीत्यर्थः। अथेति 'इदं भगवता पूर्व्वं' इत्यादिद्वादशोक्तेर्ब्रह्मनारायण-

* "परास्तेत्यपि" इति वा पाठः।

सम्वादरूपमष्टादशसु मध्ये प्रकटितं, व्यासनारदसम्वादरूपं तत्रैव प्रवेशितं, तदुभयस्य लक्षण-संख्ये तु मात्स्यादावुक्ते इति बोध्यमित्यर्थः। एवमेव भारतोपक्रमेऽपि दृष्टम्। आदावाख्यानैर्विना चतुर्विंशतिसहस्रं भारतं, ततस्तैः सहितं पञ्चाशत्सहस्रं, ततस्तैस्ततोऽ प्यधिकमितोऽप्यधिक-मिति, तद्वत् ॥२६॥

हिन्दीटीका

यद्यपि श्रीव्यास नारदजी उनके गुरु एवं परमगुरु हैं तथापि उनके मुख से श्रीमद्भागवत उन्होंने नहीं सुना था, अतः उनको भी उपदेश किया यह 'देश्यम्" का अभिप्राय है। कहा जाता है—अमृतरस से युक्त श्रीभागवत श्रीशुक-मुख से प्रवाहित है। अतः श्रीभागवत की सर्वाधिकता है। मात्स्यादि की जो श्रेष्ठता है वह श्रीभागवत से अन्य पुराणों की अपेक्षा ज्ञातव्य है। अहा! कहाँतक कहा जाय श्रीभागवत तो श्रीकृष्ण ही हैं। प्रथमस्कन्ध में कहा है—धर्मज्ञानादि के साथ श्रीकृष्ण को अपनी अप्रकट नित्य लीला में जाने पर कलि के नष्ट-दृष्टि-जनों के लिए यह पुराण-सूर्य का उदय हुआ। अतः सर्वगुणयुक्तत्व श्रीभागवत का है। क्योंकि निष्कपट धर्म इसमें वर्णित है इत्यादि। "वेद, पुराण, काव्य, ये कान्ता के समान प्रिय हैं, किन्तु श्रीभागवत तीनों गुणविशिष्ट है" यह मुक्ताफल तथा हेमाद्रिकार का वचन है। अब वेद की सापेक्षता पुराणान्तरों में कोई भी स्वीकार करते रहें, श्रीभागवत के सम्बन्ध में तो सम्भावना भी नहीं रही। जैसा कि कहा गया है—पाण्डव वंश के राजर्षि परीक्षित का श्रीशुक का संवाद हुआ

जिसमें है, यह वैष्णवी श्रुति प्रकट हुई। अब जो समस्त पुराणों का आविर्भावकर श्रीभागवत का प्राकट्य है, इसके लिये प्रथमस्कन्ध में व्यास-नारद-संवाद से प्रमाणित करें ॥ २६ ॥

तदेवं परमनिःश्रेयस-निश्चयाय श्रीभागवतमेव पौर्व्वापर्य्याविरोधेन विचार्य्यते। तत्रास्मिन् सन्दर्भ-षट्कात्मके ग्रन्थे सूत्रस्थानीयं—अवतारिकावाक्यं, ❀ विषयवाक्यं--श्रीभागवत-वाक्यम्। भाष्यरूपा तद्व्याख्या तु सम्प्रति मध्यदेशादौ व्याप्तान-द्वैतवादिनो नूनं भगवन्महिमानमवगाहयितुं तद्वादेन कर्वुरित-लिपीनां परमवैष्णवानां श्रीधरस्वामिचरणानां शुद्धवैष्णवसिद्धान्तानुगता चेत्तर्हि यथावदेव विलिख्यते। क्वचित्तेषामेवान्यत्र-दृष्ट-व्याख्यानुसारेण द्रविडादिदेशविख्यातपरमभागवतानां, तेषामेव बाहुल्येन तत्र वैष्णवत्वेन प्रसिद्धत्वात्, श्रीभागवत एव;—

"क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः।"—[भा० ११.५.७८]

इत्यनेन प्रमितमहिम्नां साक्षात् श्रीप्रभृतितः प्रवृत्त-सम्प्रदायानां श्रीवैष्णवाभिधानां श्रीरामानुजभगवत्-पादविरचित श्रीभाष्यादिदृष्टमतप्रामाण्येन मूलग्रन्थस्वारस्येन चान्यथा च। अद्वैत व्याख्यानन्तु प्रसिद्धत्वान्नातिवितायते ॥२७॥

❀ "अवतारणिकावाक्यम्" इति गोस्वामिभट्टाचार्यधृतः पाठः।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

तदेवमिति ;—ननु वेद एवास्माकं प्रमाणमिति प्रतिज्ञाय पुराणमेव तत् स्वीकरोति इति किमिदं कौतुकमिति चेन्मैवं भ्रमितव्यम्, "एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य" इत्यादिश्रुत्यैव पुराणस्य वेदत्वाभिधानात्। वेदेषु वेदान्तस्येव पुराणेषु श्रीभागवतस्य श्रैष्ठ्यनिर्णयाच्च तदेव प्रमाणमिति किमसङ्गतमुक्तमिति। अथ ब्रह्मसूत्रभाष्यरीत्या सन्दर्भस्यास्य प्रवृत्तिरित्याह ;—तत्रास्मिन्निति, विचारार्हवाक्यं--विषयवाक्यं। भाष्यरूपा तद्व्याख्येति। अयमर्थः;—श्रीधरस्वामिनोवैष्णवा एव, तट्टीकासु भगवद्विग्रहगुणविभूतिधाम्नां तत्पार्षदतनूनां च नित्यत्वोक्तेः, भगवद्भक्तेः सर्व्वोत्कृष्टमोक्षानुवृत्त्योरुक्तेश्च। तथापि क्वचित् क्वचिन्मायावादोल्लेखस्तद्वादिनो भगवद्भक्तौ प्रवेशयितुं बडिशामिषार्पणन्यायेनैवेति विदितमिति। शुद्धवैष्णवेति—यथा सांख्यादिशास्त्राणामविरुद्धांशः सर्वैं स्वीकृतस्तद्वदिदं बोध्यम्। क्वचित्तेषामेवेति—क्वचित् स्थलान्तरीयस्वामिव्याख्यानुसारेण श्रीभाष्यादिदृष्टमतप्रामाण्येन मूलश्रीभागवतस्वारस्येन चान्यथा च भाष्यरूपा तद्व्याख्या मया लिख्यते, इति मत्कपोलकल्पनं किञ्चिदपि नास्तीति प्रमाणोपेतात्र टीकेत्यर्थः। ननु पूर्व्वपक्षज्ञानाद्वैतं च व्याख्येयम्? इति तत्राह—अद्वैतेति ॥२७॥

हिन्दीटीका

अतः वास्तविक कल्याण निर्णय के निमित्त पूर्वापर विरोध के बिना श्रीमद्भागवत का ही विचार किया जाता है। इस षट्सन्दर्भ ग्रन्थ में सूत्र के स्थान पर अवतरण वाक्य, विचारणीय वाक्य—श्रीभागवतवाक्य

होंगे। भाष्य रूपस्वामि-व्याख्या—वर्त्तमान समय में मध्यदेशव्यापी अद्वैतवादियों को श्रीभगवत् महिमा से धोकर निखारने के लिए स्वामिपाद के वाद द्वारा चित्रित लेखवाले परमवैष्णव श्रीधरस्वामिपाद के शुद्ध वैष्णवसिद्धान्तानुकूल व्याख्या है वही यथावत् लिखी जाती है। कहीं उनके अतिरिक्त व्याख्यानुसार द्रविड़ देश के विख्यात परमवैष्णवों की व्याख्या, वे अधिकतर वैष्णव नाम से प्रसिद्ध हैं। श्रीभागवत में भी 'कहीं-कहीं द्रविड़ में भी अनेक वैष्णव हैं'। इत्यादि से उनकी महिमा प्रसिद्ध है साक्षात् श्री से प्रवृत्त सम्प्रदाय श्रीवैष्णव नामक श्रीरामानुज भगवत्पाद-रचित श्रीभाष्यादि में प्राप्त प्रमाणों से एवं मूलग्रन्थ के स्वारस्य से तथा अन्यतः व्याख्यानुसार लिखा जायगा। अद्वैत व्याख्या तो प्रसिद्ध है अतः उसका विस्तार अनावश्यक है ॥ २७ ॥

अत्र च स्वदर्शितार्थ-विशेष प्रमाण्यायैव, न तु श्रीमद्भागवत-वाक्यप्रामाण्याय प्रमाणानि श्रुतिपुराणादिवचनानि यथा-दृष्टमेवोदाहरणीयानि क्वचित् स्वयमदृष्टाकराणि ❀ च तत्त्ववादगुरूणामनाधुनिकानां † प्रचुरप्रचारितवैष्णवमतविशेषाणां दक्षिणादिदेशविख्यातशिष्योपशिष्यीभूतविजयध्वजव्यासतीर्थादि-वेदवेदार्थविद्वराणां श्रीमध्वाचार्य्यचरणानां भागवत-तात्पर्य्य-

❀ "अदृष्टचराणि" इति गोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः पाठः।

† "श्रीशंकराचार्य्यशिष्यतां लब्ध्वापि श्रीभगवत्पक्षपातेन ततो विच्छिद्य" इत्यधिकपाठः क्वचिद्दृश्यते, सम्मतश्चापि श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्याणाम्।

भारततात्पर्य्य-ब्रह्मसूत्रभाष्यादिभ्यः संगृहीतानि । * तैश्चैमुक्तं भारततात्पर्य्ये ;—

"शास्त्रान्तराणि संजानन् वेदान्तस्य प्रसादतः ।
देशे देशे तथा ग्रन्थान् दृष्ट्वा चैव पृथग्विधान् ॥
यथा स भगवान् व्यासः साक्षान्नारायणः प्रभुः ।
जगाद भारताद्येषु तथा वक्ष्ये तदीक्षया ॥" इति ।

तत्र तदुद्धृता श्रुतिः—चतुर्व्वेदशिखाद्या ; पुराणञ्च—गारुडादीनां सम्प्रति सर्व्वत्राप्रचरद्रूपमंशादिकं ; संहिता च—महासंहितादिकाः ; तन्त्रञ्च—तन्त्रभागवतादिकं ब्रह्मतर्कादिकमिति ज्ञेयम् ॥२८॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

अत्रेति । इह ग्रन्थे यानि श्रुतिपुराणादि वचनानि मया ध्रियन्ते, तानि स्वदर्शितार्थविशेषप्रामाण्यायैव, न तु श्रीभागवतप्रामाण्याय, तस्य स्वतः प्रमाणत्वात् । तानि च यथा दृष्टमेवोदाहरणीयानि—मूलग्रन्थान् विलोक्योत्थापितानीत्यर्थः । कानिचिद्वाक्यानि तु मदृष्टाकराण्यस्मदाचार्य्यश्रीमध्वमुनिदृष्टाकराण्येव क्वचिन्मया ध्रियन्ते इत्याह—क्वचिदिति । मद्व्याख्याने क्वचिदर्थविशेषे प्रामाण्याय श्रीमध्वाचार्य्यचरणानां भागवततात्पर्य्यादिभ्यो ग्रन्थेभ्यः संगृहीतानि श्रुतिपुराणादिवचनानि ध्रियन्त

* "परिगृहतानि" इति गोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः पाठः ।

इत्यनुषङ्गः। अत्रास्य ग्रन्थकर्त्तुः सत्यवादित्वं ध्वनितम्। 'कौमार-ब्रह्मचर्य्यवान्नैष्ठिको यः सत्यतपोनिधिः स्वप्नेऽप्यनृतं नोचे च' इति प्रसिद्धम्। तेषां कीदृशानामित्याह ;—तत्त्वेति। 'सर्व्वं वस्तु सत्यम्' इति वादस्तत्त्ववादस्तदुपदेष्टॄणामित्यर्थः। अनाधुनिकानां,* 'केनचित् शाङ्करेण सह विवादे मध्वस्य मतं व्यासः स्वीचक्रे, शङ्करस्य तु तत्याज' इत्यैतिह्यमस्ति। प्रचारितेति—'भक्तानां विप्राणामेव मोक्षः देवा भक्तेषु मुख्याः, विरिञ्चस्यैव सायुज्यं, लक्ष्म्या जीवकोटित्वं' इत्येवं मतविशेषः। दक्षिणादिदेशेति—तेनगौड़ेऽपि माधवेन्द्रादयस्तदुपशिष्याः कतिचिद्बभूवुरित्यर्थः। शास्त्रान्तराणीति—तेन स्वस्य दृष्टसर्व्वाकरता व्यज्यते, दिग्विजयित्वञ्चेत्युपोद्घातो व्याख्यातः ॥२८॥

हिन्दीटीका

इस ग्रन्थ में अपने प्रदर्शित अर्थ-विशेष को प्रमाणित करने के लिए श्रुतिवाक्य, पुराण वाक्यों का उत्थान किया जायगा, श्रीभागवत वाक्यों को प्रमाणित करने के लिए कदापि नहीं। जिन कुछ प्रमाणों को मैंने स्वयं नहीं देखा है उनको तत्ववाद गुरु जो परम प्राचीन हैं जिन्होंने वैष्णव मत का पर्याप्त प्रचार किया है, दक्षिण आदि देशों में परम विख्यात शिष्योपशिष्य श्रीविजयध्वज, व्यासतीर्थ आदि वेद-वेदार्थ के परम विद्वान् श्रीमध्वाचार्य के भागवत तात्पर्य, भारत तात्पर्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य आदि से संगृहीत किये हैं। उन्होंने भारत तात्पर्य में कहा है--वेदान्त के

* "शङ्करसमसमयानां, शङ्करेण" इति पाठान्तरमपि दृश्यते।

प्रसाद अन्य शास्त्रों के जानते हुए देश-देशों में अनेक प्रकार के ग्रन्थों को देखकर जैसे साक्षात् नारायण भगवान् व्यास ने भारतादि ग्रन्थों में कहा वैसे ही उनके ईक्षण (दृष्टि) से कहूँगा। उसमें उद्धृत श्रुति चार वेद शिखा आदि; पुराण—गारुड आदि, इस समय जिसका प्रचार नहीं है अंशादिक, संहिता = महासंहिता आदि, तन्त्र = तन्त्रभागवत, आदि ब्रह्मतर्कादि गृहीत हैं ॥ २८ ॥

अथ नमस्कुर्व्वन्नेव तथाभूतस्य श्रीमद्भागवतस्य तात्पर्य्यं तद्वक्तुर्हृदयनिष्ठापर्य्यालोचनया संक्षेपतस्तावन्निर्धारयति ;—

"स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
प्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥"
[भा० १२. १२. ६८]

टीका च श्रीधरस्वामिविरचिता ;—

"श्रीगुरुं नमस्करोति। स्वसुखेनैव निभृतं पूर्णं चेतो यस्य सः। तेनैव व्युदस्तोऽन्यस्मिन् भावो भावना यस्य तथा-भूतोऽप्यजितस्य रुचिराभिर्लीलाभिराकृष्टः सारः स्वसुखगतं धैर्य्यं यस्य सः। तत्त्वदीपं परमार्थप्रकाशकं श्रीभागवतं यो व्यतनुत, तं नतोऽस्मि" इत्येषा।

एवमेव द्वितीये तद्वाक्यमेव, ❀ "प्रायेण मुनयो राजन्" इत्यादि पद्यत्रयमनुसन्धेयम्। अत्राखिलवृजिनं तादृशभावस्य प्रतिकूलमुदासीनञ्च † ज्ञेयम्। तदेवमिह सम्बन्धितत्त्वं ब्रह्मानन्दादपि प्रकृष्टो ‡ रुचिरलीलाविशिष्टः श्रीमानजित एव। स च पूर्णत्वेन मुख्यतया श्रीकृष्णसंज्ञ एवेति श्रीवादरायणसमाधौ व्यक्तीभविष्यति। तथा प्रयोजनाख्यः पुरुषार्थश्च तादृशतदासक्तिजनकं तत् प्रेमसुखमेव। ततोऽभिधेयमपि तादृशतत्प्रेमजनकं तत् प्रेमसुखमेव। ततोऽभिधेयमपि तादृशतत्प्रेमजनकं तल्लीलाश्रवणादिलक्षणं तद्भजनमेवेत्यायातम्। अत्र 'व्याससूनु' इति ब्रह्मवैवर्त्तानुसारेण श्रीकृष्णवराज्जन्मत एव मायया तस्यास्पृष्टत्वं सूचितम्। १२।१२। श्रीसूतः श्रीशौनकम् ॥२६॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

अथ 'यस्य ब्रह्म' इति पद्योक्तं सम्बन्धिकृष्णतत्त्वं, तद्भक्तिलक्षमभिधेयं, तत्प्रेमलक्षणं पुमर्थञ्च निरूपयता पद्येन तावद्ग्रन्थं प्रवर्त्तयन् ग्रन्थकृदवतारयति ;—अथेति मङ्गलार्थम्। यस्मिन् शास्त्रवक्तुर्हृदयनिष्ठा प्रतीयते, तदेव शास्त्रप्रतिपाद्यवस्तु, न त्वन्यदित्यर्थः। स्वेति,—

❀ "तद्वाक्य एव" इति श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः पाठः।

† "अत्र सर्व्वं" इत्यधिकपाठः क्वचित्।

‡ "प्रकृष्टः" इति पाठस्तु गोस्वामिभट्टाचार्य्यसम्मतः।

तदीयम्—अजितनिरूपकं पुराणमित्यर्थः। टीका चेति ;—स्वसुखेनेति—स्वमसाधारणं जीवानन्दादुत्कृष्टं, गुडादिव मधु, यदनभिव्यक्तसंस्थान-गुणविभूतिलीलमानन्दरूपं स्वप्रकाशं ब्रह्मशब्दव्यपदेश्यं वस्तु, तेनेत्यर्थः। रुचिराभिरिति—पारमैश्वर्य्यसमवेतमाधुर्य्यसंभिन्नत्वान्मनोज्ञाभिरानन्दैक-रूपाभिः पानकरसन्यायेन स्फुरदजित-तत्परिकरादिभिर्लीलाभिरित्यर्थः। अत्राखिलेति। प्रतिकूलं- प्रत्याख्यायकम्। उदासीनं—त्याजकमित्यर्थः। (अङ्कयुग्मं स्कन्धाध्याययोर्ज्ञापकम्)। श्रीसूतः श्रीशौनकं प्रति निर्द्धारय-तीत्यवतारिका-वाक्येन सम्बन्धः। एवमुत्तरत्र सर्व्वत्र बोध्यम्॥२६॥

हिन्दीटीका

तदनन्तर नमस्कार करते हुए पूर्वोक्तिगुणविशिष्ट श्रीमद्भागवत एवं उसके वक्ता श्रीशुकदेव जी की हृदयनिष्ठा को आलोचना के साथ निर्धारण करते हैं। "स्वसुख" की श्रीधरस्वामिटीका यह है—श्रीगुरु को नमस्कार करते हैं, असाधारण सुख से निभृत = पूर्ण चित्तवाले एवं उस सुख से अन्य भावों को जिन्होंने दूर कर दिया, भगवान् की सुन्दर लीलाओं से सार को ग्रहण करनेवाले, तत्त्वदीप परमार्थ के प्रकाशक श्रीभागवत को जिन्होंने विस्तृत किया, उन समस्त पापों के नाशक श्रीशुकजी को मैं नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार द्वितीय स्कन्ध में उनके वचनों को—"राजन् प्रायः मुनिगण लोक में" इन तीन श्लोकों को देखिये। यहाँ अखिल पाप के खण्डन करनेवाले, उदासीन = त्याग करानेवाले ज्ञातव्य हैं। इस प्रकार सम्बन्धितत्त्व = ब्रह्मानन्द से भी उत्कृष्ट रुचिर लीला विशिष्ट श्रीमान् अजित = भगवान्

ही हैं। वे पूर्ण एवं मुख्य श्रीकृष्ण हैं, यह व्यास जी की समाधि में व्यक्त होगा। प्रयोजन नामक जो पुरुषार्थ है वह श्रीकृष्ण की आसक्ति-जनक है तथा श्रीकृष्णप्रेम ही सुख है। एवं 'अभिधेय' भी श्रीकृष्ण-प्रेम-जनक एवं लीला श्रवणादिस्वरूप उनका भजन ही आता है। व्यास-पुत्र को ब्रह्मवैवर्त के अनुसार श्रीकृष्णद्वैपायन से जन्मतः माया से अस्पृष्ट हैं, ऐसा सूतजी ने शौनक के प्रति निर्धारित किया॥ २९॥

तादृशमेव तात्पर्य्यं करिष्यमाणतद्ग्रन्थप्रतिपाद्यतत्त्वनिर्णय-कृते तत्प्रवक्तृ-श्रीबादरायणकृते समाधावपि संक्षेपत एव निर्द्धारयति ;—

"भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयाम्॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते।
अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो व्यासश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोक-मोह-भयापहा॥
स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम्।
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिम्॥"

[भा० १.७.४-८]

तत्र ;—

"स वै निवृत्तिनिरतः सर्व्वत्रोपेक्षको मुनिः ।
कस्य वा महतीमेतामात्मारामः समभ्यसत् ॥

[भा० १. ७. ६]

इति श्रीशौनकप्रश्नानन्तरञ्च ;—

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्व्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥
हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः ।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥"

[भा० १. ७. १०–११]

भक्तियोगेन—प्रेम्णा ;—

"अस्त्वेवमङ्ग ! भजतां भगवान्मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम् ।"

[भा० ५. ६. १८]

इत्यत्र प्रसिद्धेः । प्रणिहिते—समाहिते, "समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् । [भा० १. ५. १३] इति तं प्रति श्रीनारदोपदेशात् । पूर्णपदस्य मुक्तप्रग्रहया वृत्त्या ;—

"भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि ।
वर्त्तते निरुपाधिश्च वासुदेवेऽखिलात्मनि ॥"—

इति पाद्मोत्तरखण्डवचनावष्टम्भेन, तथा—

"कामकामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम् ।
अकामः सर्व्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ॥
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥"
[भा० २. ३. ९–१०]

इत्यस्य वाक्यद्वयस्य पूर्व्ववाक्ये "पुरुषं—परमात्मानं प्रकृत्येकोपाधिम्", उत्तरवाक्ये "पुरुषं—पूर्णं निरूपाधिं इति टीकानुसारेण च, पूर्णः पुरुषोऽत्र—स्वयम्भगवानेवोच्यते ॥३०॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

ग्रन्थवक्तुः शुकस्य यत्र निष्ठावधारिता, तत्रैव ग्रन्थकर्त्तु र्व्यासस्यापि निष्ठामवधारयितुमवतारयति ;—तादृशमेवेति । निवृत्तिनिरतं—ब्रह्मानन्दादन्यस्मिन् स्पृहाविरहितम् । कस्येति—संहिताभ्यासस्य किं फलमित्यर्थः । अध्यगात् अधीतवान् । मुक्तप्रग्रहेति—यथाश्वः प्रग्रहे मुक्ते बलावधि धावत्येवं पूर्णशब्दः प्रवृत्तः पूर्णत्वावधि प्रवर्त्तेतेति वक्तुं, तदवधिश्च स्वयंभगवत्येवेति तथोच्यते इत्यर्थः ॥३०॥

हिन्दीटीका

इस प्रकार के तात्पर्य को दृष्टिकोण में रख जिस श्रीभागवत ग्रन्थ की रचना करनी है उस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य तत्त्व का निर्णय करने के लिये उसके प्रवक्ता श्रीव्यास की समाधि में स्थिति का संक्षेप से निर्धारण करते हैं—भलीभाँति सावधान एवं स्वच्छ मन में भक्तियोग से पूर्ण

पुरुष एवं उनकी आश्रयभूत माया को श्रीव्यास ने देखा। जिस माया से मोहित जीव, पर होने पर भी अपनेको त्रिगुणात्मक मानता है तथा माया के द्वारा किये अनर्थ को प्राप्त होता है। अनर्थों का नाश करनेवाला साक्षात् भगवान् का भक्तियोगयुक्त भागवत को अज्ञानी मनुष्यों के लिए व्यास जी ने बनाया। जिसके श्रवण करने से परम-पुरुष श्रीकृष्ण के प्रति शोक, मोह, भय को दूर करनेवाली भक्ति उत्पन्न होती है। व्यासजी ने इस भागवत-संहिता को क्रमशः बनाकर निवृत्ति-मार्ग में रत अपने पुत्र मुनि श्रीशुक को पढ़ाया। वहाँ—निवृत्ति में रत सभी ओर उपेक्षा रखनेवाले एवं आत्माराम मुनि ने किस कारण इस संहिता का अभ्यास किया? इस शौनकजी के प्रश्नानन्तर—आत्मा में रमण करनेवाले, बन्धन से रहित, मुनि भी भगवान् की निष्काम भक्ति करते हैं, क्योंकि भगवान् के गुण अप्राकृत हैं। भगवान् के गुणों से आकर्षित मति एवं भक्तों के प्रिय श्रीशुकजी ने इतने बड़े आख्यान श्रीभागवत का अध्ययन किया। भक्तियोग से = प्रेम से—भगवान् भजन करनेवालों को मुक्ति सहज में प्रदान करते हैं। भक्तियोग श्रीभगवान् कठिन से देते हैं, यह प्रसिद्ध है। समाधियुक्त मन में दर्शन पाया, क्योंकि नारदजी ने कहा था कि समाधि से भगवान् की लीलाओं का ज्ञान करो। पूर्णपद अपनी स्वाभाविक-शक्ति से भगवान् वासुदेव अखिलात्मा पुरुष को ज्ञान कराता है। इस पद्मपुराण के उत्तर-खण्डस्थित वचन के बल से तथा काम की कामनावाले चन्द्रमा की एवं निष्काम परमपुरुष की पूजा करें। निष्काम एवं सकल कामना-वाले उदार, ज्ञानी मोक्ष की इच्छा से परमपुरुष की पूजा करें। इन

दोनों वाक्यों में प्रथम वाक्यगत पुरुष = परमात्मा प्रकृति की एक उपाधियुक्त की, दूसरे वाक्य में पुरुष पूर्ण उपाधिरहित गृहीत है; यह टीका के अनुसार अर्थ है। पूर्णपुरुष यहाँ स्वयं भगवान् गृहीत हैं ॥ ३० ॥

पूर्व्वमिति पाठे "पूर्व्वमेवाहमिहासम्" इति "तत् पुरुषस्य पुरुषत्वम्" इति श्रौतनिर्वचनविशेषपुरस्कारेण च स एवोच्यते। तमपश्यत् श्रीवेदव्यास इति स्वरूपशक्तिमन्तमेवेत्येतत् स्वयमेव लब्धम् ; 'पूर्णं ❀ चन्द्रमपश्यत्' इत्युक्ते 'कान्तिमन्तमपश्यत्' इति लभ्यते। अतएव—

"त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः।
मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि ॥"

[भा० १. ७. २३] इत्युक्तम्।

अतएव "मायाञ्च तदपाश्रयाम्" इत्यनेन तस्मिन् अप—अपकृष्ट आश्रयो यस्याः, निलीय स्थितत्वात्; इति मायाया न तत्स्वरूपभूतत्वमित्यपि लभ्यते। वक्ष्यते च ;—"माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना" इति। स्वरूपशक्तिरियमत्रैव व्यक्तीभविष्यति—

❀ "अतएव पूर्णं" इति वा पाठः।

अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे" इत्यनेन "आत्मारामाश्च" इत्यनेन च। पूर्व्वत्र हि भक्तियोग प्रभावः खल्वसौ मायाभिभावकतया स्वरूप-शक्तिवृत्तित्वेनैव गम्यते, परत्र च ते गुणा ब्रह्मानन्दस्याप्युपरिचरतया, ❀ स्वरूपशक्तेः परमवृत्तितामेवार्हन्तीति। मायाधिष्ठातृपुरुषस्तु तदंशत्वेन, ब्रह्म च तदीयनिर्व्विशेषाविर्भावत्वेन, † तदन्तर्भावविवक्षया ‡ पृथक् नोक्ते इति ज्ञेयम्। + अतोऽत्र पूर्व्ववदेव सम्बन्धितत्त्वं निर्धारितम् ॥३१॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

पाठान्तरेणापि स एवार्थ इति व्याख्यातुमाह—पूर्व्वमिति; ईश्वरस्यैव पूर्व्ववर्त्तित्वात् पुरुषत्वमित्यर्थः। स एवेति—स्वयम्भगवानेव स्वरूपशक्तिमत्त्वे प्रमाणमाह—त्वमिति। श्रुतिश्चात्रास्ति;—

"परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।"
(श्वेताश्व० ६.८) इति।

❀ "उपरिवर्त्तितया" इति च पाठान्तरम्।

† "आविर्भावरूपत्वेन" इति श्रीगोस्वामिभट्टाचार्य्य-सम्मतः पाठः।

‡ "तदन्तर्भावेणापृथग्दृष्टत्वात् पृथग्नोक्ते" इत्येवं पाठोऽत्र श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्य-सम्मततयोपलभ्यते।

+ "तदेतद्द्वितीय-तृतीयसन्दर्भयोः सुष्ठ प्रतिपत्स्यते" इत्यधिकपाठः क्वचिद्दृश्यते।

एषैव "ह्लादिनी सन्धिनी" इत्यादिना स्मर्य्यते। इत्युक्तमिति—कण्ठतः पठितमज्जु नेनेत्यर्थः। मायातोऽन्येयं बोध्येत्याह—अतएवेत्यादिना। मूलवाक्येन स्वरूपभूता चिच्छक्तिरियं बोधितास्तीत्याह—स्वरूपेत्यादिना, 'पट्टमहीषीव स्वरूपशक्तिः, वहिर्द्वारसेविकेव मायाशक्तिः' इत्युभयोर्महदन्तरं बोध्यम्। भगवद्भक्तेर्भगवद्गुणानां च स्वरूपशक्तिसारांशत्वं सयुक्तिकमाह—पूर्व्वत्र हीत्यादीना, ब्रह्मानन्दस्येति—अनभिव्यक्तसंस्थानादिविशेषस्येति बोध्यम्। ननु परमात्मरूपस्तादृशब्रह्मरूपश्चाविर्भावः कुतो व्यासेन न दृष्टः? इति चेत्तत्राह–मायाधिष्ठात्रिति ॥२१॥

हिन्दीटीका

पूर्ण पुरुष के स्थान में 'पूर्व' ऐसा कहीं पाठ है वहाँ "मैं ही पूर्व में था" तो उसी पुरुष को पुरुष समझना उचित है। श्रवण में जो आता है इस कारण वही पुरुष कहा जायगा। उनको श्रीवेदव्यास ने देखा; क्योंकि स्वरूप शक्तिवाला है, यह स्वयं ही ज्ञात है। जैसे "पूर्णचन्द्र को देखा" इस वाक्य से कान्तियुक्त पूर्णचन्द्र को देखा यह स्वयं निकल जाता है। अतः आप प्रकृति से परे साक्षात् आद्य ईश्वर हैं। अपनी चित् शक्ति से माया को निरस्त कर कैवल्य आत्मा में स्थित रहते हैं; यह कहा गया। अतः माया उनके अधीन है, इससे माया का आश्रय अपकृष्ट है, माया को लीन किये हैं। अतः माया तत्स्वरूप नहीं। आगे कहा जायगा कि माया उनके आगे भागती है, लज्जित होती है। ऐसी स्वरूप-शक्ति यहाँ पर स्पष्ट हो जायगी। भगवान् के प्रति भक्ति अनर्थों का नाश करती है एवं आत्माराम मुनि भी भक्ति करते हैं।

पूर्व में भक्तियोग का प्रभाव मायाभिभावकता से स्वरूप शक्तित्वेन गम्य है। पश्चात् वे गुण ब्रह्मानन्द से भी अधिक स्वरूपशक्ति की परम वृत्ति होती है। माया के अधिष्ठाता पुरुष तो उनका एक अंश हैं। ब्रह्म एक निर्विशेष आविर्भाव है, वह श्रीकृष्ण के ही अन्तर्भूत होने के कारण अलग नहीं कहे गये। अतः यहाँ पूर्ववत् सम्बन्धित तत्व निर्धारित है ॥३१॥

अथ प्राक्प्रतिपादितस्यैवाभिधेयस्य प्रयोजनस्य च स्थापकं जीवस्य स्वरूपत एव परमेश्वराद्वैलक्षण्यमपश्यदित्याह—ययेति। यया—मायया सम्मोहितो जीवः स्वयं चिद्रूपत्वेन त्रिगुणात्मकाज्जडात् परोऽप्यात्मानं त्रिगुणात्मकं जडं देहादिसंघातं मनुते, तन्मननकृतमनर्थं संसारव्यसनञ्चाभिपद्यते। तदेवं जीवस्य चिद्रूपत्वेऽपि, "यया सम्मोहितः" इति "मनुत" इति च स्वरूपभूतज्ञानशालित्वं व्यनक्ति, प्रकाशैकरूपस्य तेजसः स्वपरप्रकाशनशक्तिवत्,—

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः"

[भा० ५. १५.]

इति श्रीगीताभ्यः। तदेवं 'उपाधेरेव जीवत्वं, तन्नाशस्यैव मोक्षत्वम्' इति मतान्तरं परिहृतवान्। अत्र "यया सम्मोहितं"

इत्यनेन तस्या एव तत्र कर्त्तृत्वं, भगवत ❀ स्तत्रोदासीनत्वं मतम् । वक्ष्यते च ;—

"विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया ।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः ॥"

[२. ५. १३.] इति ।

अत्र 'विलज्जमानया' इत्यनेनेदमायाति; तस्या जीव-सम्मोहनं कर्म्म श्रीभगवते न रोचते इति यद्यपि सा स्वयं जानाति, तथापि—

"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य ।"

[भा० ११. २. ३७.]

इति दिशा जीवानामनादिभगवदज्ञानमयवैमुख्यमसहमाना स्वरूपावरण- † मस्वरूपावेशञ्च करोति ॥३२॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

जीवो येनेश्वरं भजेत् भक्त्या च तस्मिन् प्रेमाणं विन्देत् ततो मायया विमुक्तः स्यात्तमीश्वराज्जीवस्य वास्तवं भेदमपश्यदिति व्याचष्टे ;— अथ प्रागित्यादिना । जीवस्येति, वैलक्षण्यमिति—सेवकत्वसेव्यत्वाणुत्व-

❀ "भगवतस्तु" इति वा पाठः ।

† "अस्फुरणं" इति वा पाठः ।

विभुत्वरूपनित्यधर्म्महेतुकं भेदमित्यर्थः। ननु "चिन्मात्रो जीवो यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानं यज्ञं तनुते" इत्यादौ चिद्धातुत्वश्रवणात्, न तस्य धर्म्मभूतं नित्यं ज्ञानमस्ति, येन मोहमनने वर्णनीये? तस्मात्;— "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं" इत्यादिवाक्यात् सत्त्वे या चैतन्यस्य (जीवस्य) छाया, तदेव सत्त्वोपहितस्य तस्य ज्ञानं, येन मोहमनने व्यासेन दृष्टे स्याताम्? इति चेत्तत्राह,— तदेव मित्यादिना। छाया भावाच्च न तत्कल्पनं युक्तमिति भावः। ननु स्वरूपभूतं ज्ञानं कथमिति चेत्तत्राह,— प्रकाशैकेति। अहिकुण्डलाधिकरणे भाषितमेतद्द्रष्टव्यम्। तृतीयसन्दर्भे विस्तरीष्याम एतत्। तदेवमुपाधेरिति,—'अन्तःकरणं जीव; अन्तःकरणनाशो जीवस्य मोक्षः' इति शङ्करमतं दूषितम्। तथा सति 'परोऽपि' इत्यादि व्याकोपादिति भावः। अत्रेति—तत्र जीवमोहने कर्मणि। तस्याः—मायायाः। विलज्जेति—ब्रह्मवाक्यम्। अमुया—मायया। असहमानेति, दास्या उचितमेतत् कर्म्म, यत् स्वामि-विमुखान् दुःखाकरोतीति। ईशवैमुख्येन पिहितं जीवं माया पिधत्ते, घटेनावृतं दीपं यथा तम् आवृणोतीति ॥३२॥

हिन्दीटीका

प्रथम बतलाये हुए अभिधेय एवं प्रयोजन का स्थापक, जीव का स्वरूपगतभेद परमेश्वर से देखा—अतः जिस माया से मोहित जीव स्वयं चिद्रूप है, त्रिगुणात्मक जड़ से पर होते हुए भी अपने को त्रिगुणात्मक देहादि समुदाय जड़ मानता है, एवं उसके मनन से अनर्थ-भूत संसार कष्ट को प्राप्त करता है। जीव चित्रूप होने पर भी माया

से मोहित होकर ऐसा मानता है, स्वरूपभूत ज्ञानशक्ति का प्रकट करता है, प्रकाशस्वरूप तेज को अपनी तथा अन्य की प्रकाश-सामर्थ्य के तुल्य अज्ञान से आवृत ज्ञान है अतः जीव उससे मुग्ध रहता है, ऐसा गीता में कहा। अतः उपाधि ही जीव है उसका नाश, मोक्ष यह मत निर्मूल है। जिससे सम्मोहित उसीकी कर्तृता तथा भगवान् की उदासीनता हुई। आगे कहेंगे—भगवान् के आगे स्थित होने में लजानेवाली माया से मोहित मैं एवं मेरा ऐसा दुर्बुद्धि-जन प्रलाप करते हैं। यहाँ लजानेवाली का अभिप्राय यही होता है कि माया का जीव को मोहनकार्य भगवान् को अच्छा नहीं लगता; यह माया यद्यपि स्वयं जानती है तथापि "ईश के विमुख देहाभिमानियों को भय है" इस न्याय से जीवों का अनादि भगवान् की अज्ञानमय विमुखता को न सहकर स्वरूपावरण, अस्वरूपावेश माया करती है "जैसे घट के भीतर दीप को अन्धकार ढकता है"॥ ३२॥

श्रीभगवांश्चानादित एव भक्तायां प्रपञ्चाधिकारिण्यां तस्यां दाक्षिण्यं लंघितुं न शक्नोति। तथा तद्भयेनापि जीवानां स्वसाम्मुख्यं वाञ्छन्नुपदिशति ;—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥"

[गीता ७. १४.]

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य्यसम्विदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥
[भा० ३. २५. २५.] इति ।

लीलया श्रीमद्व्यासरूपेण तु विशिष्टतया तदुपदिष्टवानित्यनन्तरमेवायास्यति, अनर्थोपशमं साक्षादिति । तस्माद्द्वयोरपि तत्तत् समञ्जसं ज्ञेयम् । ननु माया खलु शक्तिः, शक्तिश्च कार्य्यक्षमत्वम्, तच्च धर्म्मविशेषः, तस्याः * कथं लज्जादिकम् ? उच्यते ;—एवं सत्यपि भगवति तासां शक्तीनामधिष्ठातृदेव्यः श्रूयन्ते, यथा केनोपनिषदि महेन्द्रमाययोः संवादः । तदास्तां प्रस्तुतं प्रस्तूयते ॥२३॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

नन्वीश्वरः कथं तन्मोहनं सहते ? तत्राह—भगवांश्चेति । तर्हि कृपालुताक्षतिः ? तत्राह—तथेति, तद्भये नापीति—मायातो यज्जीवानां भयं तेनापि हेतुनेत्यर्थः । ततश्च न तत्क्षतिरित्यर्थः । दैवीति प्रपत्तिश्चेयं—सत्प्रसङ्गहेतुकैव तदुपदिष्टा, यया साम्मुख्यं स्यात् । "तद्विद्धि प्रणिपातेन" इत्यादि तद्वाक्यात्, "सतां प्रसङ्गात्" इत्याद्यग्रिमवाक्याच्च । लीलयेति—लीलावतारेण, विशिष्टतयेति—आचार्य्यरूपेणेत्यर्थः । तस्मादिति, द्वयोः—

*"तस्य" इति वा पाठः ।

माया-भगवतोरपि। तत्तदिति—मोहनं साम्मुख्य-वाञ्छा चेत्यर्थः। ननु मायाया मोहन-लज्जनकर्तृत्वमुक्तं, तत् कथं जड़ायास्तस्याः सम्भवेत्? इति शङ्कते—ननु मायेति; धर्म्मविशेषः—उत्साहादिवदित्यर्थः। सिद्धान्तयति—उच्यत इति। अधिष्ठातृदेव्य इति—विन्ध्यादिगिरीणां यथाधिष्ठातृमूर्त्तयस्तद्वत्। केनेति—तस्यां, "ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये" इत्यादि वाक्यमस्ति। तत्राग्निवायुमघोनः सगर्व्वान् वीक्ष्य तद्गर्व्वमपनेतुं परमात्माविरभूत्। तमजानन्तस्ते जिज्ञासयामासुः। तेषां! वीर्य्यं परीक्षमाणः स तृणं निदधौ। सर्व्वं दहेयमित्यग्निः, सर्व्वमाददीयेति वायुश्च ब्रुवंस्तन्निर्दग्धुमादातुञ्च नाशकत्। ज्ञातुं प्रवृत्तान्मघोनस्तु स तिरोधत्त। तदाकाशे मघवा हैमवतीमुमामाजगाम, किमेतदिति पप्रच्छ। सा च—'ब्रह्मैतत्' इत्युवाच; इति निकृष्टम्॥२३॥

हिन्दीटीका

श्रीभगवान् अनादिकाल से त्रिधा विभक्त प्रपञ्चमयी माया के चातुर्य को लंघन नहीं करते; एवं माया के भय से भीत जीवों को अपने समीप लाने की इच्छा से उपदेश करते हैं। यह गुणमयी दैवी मेरी दुरूह माया है, किन्तु जो मेरे समीप होते हैं वे इस माया को पार करते हैं। सत्संग के द्वारा पराक्रमयुक्त हृदय एवं कानों को आनन्द देनेवाली मेरी कथा के सेवन से कल्याण मार्ग में श्रद्धा, रति तथा भक्ति उत्पन्न होती है। लीला अवतार श्री व्यासरूप तथा आचार्यरूप से उपदेश किया यह स्वयं सिद्ध है। भगवद्गुण गान साक्षात् अनर्थ को दूर करनेवाला है। अतः दोनों का सामञ्जस्य हो गया। माया शक्तिहै एवं शक्ति को ही

कार्य क्षमता है वही उसका धर्म है तो उसकी लज्जा आदि क्यों? इसका उत्तर यही होगा कि भगवान् के रहने पर उन शक्तियों की अधिष्ठात्री देवियाँ भी हैं जैसा कि केनोपनिषद् में महेन्द्र एवं माया का संवाद है। अस्तु अब प्रकृत को प्रस्तुत करते हैं ॥२३॥

तत्र जीवस्य तादृशचिद्रूपत्वेऽपि परमेश्वरतो वैलक्षण्यं 'तदपाश्रयां' इति, 'यया सम्मोहितः' इति दर्शयति ॥२४॥

श्री बलदेवविद्याभूषणकृतटीका

तत्र जीवस्येति ;—"मायाञ्च तदपाश्रयाम्" इतीश्वरस्य मायानियन्तृत्वं "यया सम्मोहितो जीवः" इति जीवस्य मायानियम्यत्वञ्च। तेन स्वरूपत ईशाज्जीवस्य भेदपर्य्यायं वैलक्षण्यं दृष्टवानिति प्रस्फुटम्। 'अपश्यत्' इत्यनेन कालोऽप्यानीतः। तदेवमीश्वरजीव-मायाकालाख्यानि चत्वारि तत्त्वानि समाधौ श्रीव्यासेन दृष्टानि। तानि नित्यान्येव।

"अथ ह वाव नित्यानि पुरुषः प्रकृतिरात्मा कालः"

इत्येवं भाल्लवेयश्रुतेः।

"नित्यो नित्यानाञ्चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्"

(कठ० ५.१३.) इति काठकात्।

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।"

"अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।"

(श्वेत० ४.५.) इतिश्वेताश्वतराणां मन्त्राच्च।

"अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने ।
सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे ॥
प्रधानं पुरुषं चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥
अव्यक्तं कारणं यत्तत् प्रधानमृषिसत्तमैः ।
प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम् ॥
अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज ! विद्यते ।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः ॥" इति

वैष्णवाच्च । तेष्वीश्वरः शक्तिमान् स्वतन्त्रः जीवादयस्तु तच्छक्त्यो-ऽस्वतन्त्राः ।

"विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा ।
अविद्याकार्यसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥' इति वैष्णवात् ।

"स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि" [भा० १०.१.२२] इति श्रीभागवताच्च । तत्र विभुविज्ञानं—ईश्वरः, अणुविज्ञानं—जीवः । उभयं—नित्यज्ञानगुणकम् । सत्त्वादिगुणत्रय-विशिष्टं जड़ं द्रव्यं तु कालः । कर्म्माप्यनादि विनाशि चास्ति; "न कर्म्मा-विभागादिति चेन्नानादित्वात्" [ब्र० २.१.३५] इति सूत्रादिति वस्तुस्थितिः श्रुतिस्मृतिसिद्धा वेदितव्या ॥३४॥

हिन्दीटीका

जीव इस प्रकार चित् रूप होने पर भी परमेश्वर से विलक्षण है क्योंकि माया भगवान् से दूर है तथा उससे जीव मुग्ध रहता है। ॥३४॥

यद्यैव यदेकं चिद्रूपं ब्रह्म मायाश्रयतावलितं विद्यामयं, तद्यैव तन्मायाविषयतापन्नमविद्यापरिभूतञ्चेत्युक्तमिति जीवेश्वर-विभागोऽवगतः। ततश्च स्वरूपसामर्थ्यवैलक्षण्येन तद्द्वितयं मिथो विलक्षणस्वरूपमेवेत्यागतम् ॥३५॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

यत्तु—"एकमेवाद्वितीयं" [छान्दोग्य ६.२.१.] "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" [बृ० आ० ३.६.२८] "नेह नानास्ति किञ्चन" [बृ०आ० ४.४.१६] इत्यादि श्रुतिभ्यो निर्विशेषचिन्मात्राद्वैतं ब्रह्म वास्तवं, अथ सदसद्विल-क्षणत्वानिर्व्वचनीयेन विद्याविद्यावृत्तिकेनाज्ञानेन सम्बन्धात्तस्माद्विद्योप-हितमीश्वरचैतन्यमविद्योपहितं जीव-चैतन्यञ्चाभूत, स्वरूपज्ञानेन निवृत्ते त्वज्ञाने न तत्रेश्वरजीवभावः, किन्तु निर्व्विशेषाद्वितीयचिन्मात्ररूपाव-स्थितिर्भवेदित्याह मायी शङ्करः; तत्राह—यद्यैव यदेकमिति, विस्फुटा-र्थम्। इत्युक्तमिति। युगपदेवाकस्मादेवाज्ञानयोगादेकस्य भागस्य विद्या-श्रयत्वमन्यस्याविद्यापराभूतिरिति किमपराद्धं तेन ब्रह्मणा, येन विविध-विक्षेपक्लेशानुभवभाजनताभूत् ? पुनरप्याकस्मिकज्ञानसम्बन्धस्य शक्यत्वाद्वक्तुमिति न तदुक्तरीत्या तद्विभागो वाच्यः, किन्तु श्रीव्यासदृष्ट-रीत्यैव सोऽस्माभिरवगत इत्यर्थः ॥३५॥

हिन्दीटीका

जबकि चित्‌रूप एक ब्रह्म माया के आश्रय से युक्त विद्यामय है तब माया विषयता से युक्त अविद्या से परिभूत है। यह जीवेश्वर-विभाग बड़ा ही अयुक्ति पूर्ण है। पुनश्च स्वरूप सामर्थ्य की विलक्षणता से वह दो विभागों में परस्पर विलक्षण स्वरूप है यह निष्कर्ष हुआ। ॥३५॥

न चोपाधि-तारतम्यमयपरिच्छेद-प्रतिविम्बत्वादि व्यवस्थया तयोर्विभागः स्यात् ॥३६॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

यत्तु "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" [बृ०आ० २.५.१६] इत्यादि-श्रुतेस्तस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणो मायया परिच्छेदादीश्वरजीवविभागः स्यात्। तत्र विद्यया परिच्छिन्नो महान् खण्ड 'ईश्वरः', अविद्यया परिच्छिन्नः कनीयान् खण्डस्तु 'जीवः'। यथा घटेनावच्छिन्नः शरावेणा-वच्छिन्नश्चाकाशखण्डो महदल्पताव्यपदेशं भजति।

"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भित्त्वा बहुधैकोऽनुगच्छन्।
"उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥"—

इत्यादिषु ब्रह्मणस्तस्य प्रतिबिम्बश्रवणात्तद्विभागः स्यात्। विद्यायां प्रतिबिम्ब ईश्वरः, अविद्यायां प्रतिबिम्बस्तु जीवः। यथा सरसि रवेः प्रतिबिम्बः, यथा च घटे प्रतिबिम्बो महदल्पत्वव्यपदेशं भजते, तद्वत्—इत्याह शङ्करः। तदिदं निरसनाय दर्शयति—न चेति, अनया रीत्या तयोर्विभागो न च स्यादित्यन्वयः ॥३६॥

हिन्दीटीका

उपाधि के तारतम्य से परिच्छेद, प्रतिबिम्बत्व आदि व्यवस्थाद्वारा जीवेश्वर विभाग नहीं हो सकता ॥३६॥

तत्र यद्यु पाधेरनाविद्यकत्वेन वास्तवत्वं, तद्य विषयस्य तस्य परिच्छेदविषयत्वासम्भवः । निर्धर्म्मकस्य व्यापकस्य निरवयवस्य च प्रतिबिम्बत्वायोगोऽपि ; उपाधिसम्बन्धाभावात्, बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भेदाभावात्, दृश्यत्वाभावाच्च । उपाधिपरिच्छिन्नाकाशस्थज्योतिरंशस्यैव प्रतिबिम्बो दृश्यते, न त्वाकाशस्य, दृश्यत्वाभावादेव ॥३७॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

कुतो न वाच्य इति चेदनुपपत्तेरेवेत्याह ;—तत्र यद्यु पाधेरिति, परिच्छेदपक्षं निराकरोति—अनाविद्यकत्वेन, रज्जुभुजङ्गवदज्ञानरचितत्वाभावेन वस्तुभूतत्वे सतीत्यर्थः । अविषयस्येति—"अगृह्यो न हि गृह्यते" इति (बृ० आ० ३. ६. २६) श्रु तेः सर्व्वास्पृश्यस्य तस्य ब्रह्मण इत्यर्थः । इदमत्र बोध्यम् ;—न च टङ्कच्छिन्नपाषाणखण्डवद्वास्तवोपाधिच्छिन्नो ब्रह्मखण्डविशेष ईश्वरो जीवश्च, ब्रह्मणोऽच्छेद्यत्वादखण्डत्वाभ्युपगमाच्च, आदिमत्त्वापत्तेश्चेश्वरजीवयोः, यतः—'एकस्य द्विधा त्रिधा विधानं छेदः नाप्यच्छिन्न एवोपाधिसंयुक्तो ब्रह्मप्रदेशविशेष एव स सः, उपाधौ चलत्युपाधिसंयुक्त-ब्रह्मप्रदेशचलनायोगात् प्रतिक्षण-

मुपाधिसंयुक्त-ब्रह्मप्रदेशभेदादनुक्षणमुपहितत्वानुपहितत्वापत्तेः। न च कृत्स्नं ब्रह्मैवोपहितं स सः, अनुपहितब्रह्मव्यपदेशासिद्धेः। नापिब्रह्माधिष्ठानम्, उपाधिरेव स सः, मुक्तावीशजीवाभावापत्तेरिति तुच्छः परिच्छेदवादः।

अथ प्रतिबिम्बपक्षं निराकरोति—निर्धर्म्मकस्येत्यादिना, निर्धर्म्मकस्योपाधिसम्बन्धाभावात्, व्यापकस्य बिम्ब-प्रतिबिम्बभेदाभावात्, निरवयवस्य दृश्यत्वाभावाच्च, ब्रह्मणः प्रतिबिम्ब ईश्वरो जीवश्च नेत्यर्थः। रूपादि-धर्म्मविशिष्टस्य परिच्छिन्नस्य सावयवस्य च सूर्य्यादेस्तद्विदूरे जलाद्युपाधौ प्रतिबिम्बो दृष्टः, तद्विलक्षणस्य ब्रह्मणः स न शक्यो वक्तुमित्यर्थः। नन्वाकाशस्य तादृशस्यापि प्रतिबिम्बदर्शनाद्ब्रह्मणः स भविष्यतीति चेत्तत्राह उपाधीति, ग्रह-नक्षत्र-प्रभामण्डलस्येत्यर्थः। अन्यथा वायु-काल-दिशामपि स दर्शनीयः। यत्तु ध्वनेः प्रतिध्वनिरिव ब्रह्मणः प्रतिबिम्बः स्यादित्याह, तन्न चारु, अर्थान्तरत्वादिति प्रतिबिम्बवादोऽप्यतितुच्छः ॥३७॥

हिन्दीटीका

उपाधि-रहित है, अविद्याशून्य है। अतः, वास्तविक है, तो अविषय का परिच्छेद ही सम्भव नहीं है। धर्मरहित, व्यापक एवं निरवयव का प्रतिबिम्ब भी वही होगा क्योंकि उपाधि से सम्बन्ध ही नहीं है, दृश्य भी नहीं है। उपाधि से परिच्छिन्न आकाशस्थ ज्योति का प्रतिबिम्ब दृष्ट होता है नकि आकाश का, क्योंकि उसमें दृश्यत्व नहीं है ॥३७॥

तथा वास्तवपरिच्छेदादौ सति सामानाधिकरण्यज्ञानमात्रेण न तत्त्यागश्च भवेत् । 'तत्पदार्थ-प्रभावस्तत्र कारणम्' इति चेदस्माकमेव मतसम्मतम् * ॥३८॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

"ब्रह्मैवाहम्" इति ज्ञानमात्रेण तद्रूपावस्थितिः स्यादिति यदभिमतं, तत् खलु उपाधेर्वास्तवत्वपक्षे न सम्भवतीत्याह ;— तथा वास्तवेति, आदिना प्रतिबिम्बो ग्राह्यः । न खलु निगड़ितः कश्चिद्दीनः 'राजैवाहम्' इति ज्ञानमात्राद्राजा भवन् दृष्ट इति भावः । (ननु) ब्रह्मानुसन्धिसामर्थ्याद्भवेदिति चेत्तत्राह—तत्पदार्थेति, तथा च त्व(त)-न्मतक्षतिरिति ॥३८॥

हिन्दीटीका

वास्तविक परिच्छेद रहने पर केवल सामानाधिकरण्य ज्ञान मात्र में उसका त्याग नहीं हो सकता । उस पदार्थ का प्रभाव उसमें कारण है यही मत युक्त है । ॥३८॥

उपाधेराविद्यकत्वे तु तत्र सत्परिच्छिन्नत्वादेरप्यघटमानत्वादाविद्यकत्वमेवेति घटाकाशादिषु वास्तवोपाधिमय-तद्दर्शनया न तेषामवास्तवस्वप्नदृष्टान्तोपजीविनां सिद्धान्तः सिध्यति, घटमानाघटमानयोः सङ्गतेः कर्त्तुमशक्यत्वात् । ततश्च तेषां

* "मतं सम्मतं" इति वा पाठः ।

तत्तत् सर्व्वमविद्याविलसितमेवेति * स्वरूपमप्राप्तेन तेन तेन (च) तत्तद्व्यवस्थापयितुमशक्यम् ॥३६॥

श्री बलदेवविद्याभूषणकृतटीका

अथोपाधेराविद्यकत्वपक्षे परिच्छेदादिवादद्वयं निराकरोति—उपाधेरिति, आविद्यकत्वे—रज्जुभुजङ्गादिवन्मिथ्यात्वे सतीत्यर्थः । तत्र उपाधिपरिच्छिन्नत्वतत्प्रतिबिम्बत्वयोः, अनुपपद्यमानत्वान्मिथ्यात्वमेवेति हेतोः, घटाकाशादिषु—घटपरिच्छिन्नाकाशे घटाम्बुप्रतिबिम्बाकाशे च † वास्तवोपाधिमय—तदुभयदृष्टान्तदर्शनया तेषां चिन्मात्राद्वैतिनामेकजीववादपरिनिष्ठत्वादवास्तवस्वप्नदृष्टान्तोपजीविनां सिद्धान्तो न सिध्यति । उपाधेर्मिथ्यात्वे तेन परिच्छेदः प्रतिबिम्बश्च ब्रह्मणो मिथ्यैव स्यात्, अतो मिथ्योपाधिदृष्टान्तत्वेन सत्यघटघटाम्बुनोः प्रदर्शनमसमञ्जसमेव । घटघटाम्बुदृष्टान्त-प्रदर्शनं—घटमानं, विद्याऽविद्यावृत्तिरूपदार्ष्टान्तिकप्रदर्शनं त्वघटमानम्; तयोः सङ्गतिः—सादृश्यविलक्षणा कर्त्तुमशक्यैवं, सादृश्याभावात् । ततश्चेति, तत्तत् सर्व्वं—परिच्छेदप्रतिबिम्बकल्पनं, अविद्याविलसितं—अज्ञानविजृम्भितमेव, इति— एवमुक्तरीत्या, स्वरूपमप्राप्तेन—असिद्धेन, तेन—परिच्छेदवादेन, तेन—प्रतिबिम्बवादेन च तत्तद्व्यवस्थापयितुं—प्रतिपादयितुमशक्यम् । ततश्च हन्तृहतन्यायेन व्यासदृष्टप्रकारकस्तद्विभागो ध्रुवः ॥३६॥

* "अविद्याविलास एवेति" इति श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः पाठः ।

† "घटाम्बुप्रतिबिम्बाकाशे च" इत्यत्र "घटप्रतिबिम्बे च" इत्येव पाठः साधीयान् मन्येत, सुधीभिश्च चिन्तनीयः ।

हिन्दीटीका

उपाधि को अविद्याकृत पक्ष में तो उपाधि से परिच्छिन्न होने पर भी अघटमान है, अतः अविद्याकृत ही है। घटाकाश भी हमें वास्तविक उपाधिमय देखा गया है। अतः उनका अवास्तव स्वप्न दृष्टान्त से सिद्धान्त सिद्ध होता है। घटमान अघटमान की संगति नहीं की जा सकती। अतः उनका सब कुछ अविद्या का विलास है। स्वरूप को न पाकर जैसी-तैसी व्यवस्था नहीं की जा सकती है ॥३६॥

इति ब्रह्माविद्ययोः पर्य्यवसाने सति यदेव ब्रह्म—चिन्मात्रत्वेनाविद्यायोगस्यात्यन्ताभावास्पदत्वाच्छुद्धं, तदेव तद्योगादशुद्ध्या* जीवः, पुनस्तदेव जीवाविद्याकल्पितमायाश्रयत्वादीश्वरस्तदेव च तन्मायाविषयत्वाज्जीव इति विरोधस्तदवस्थ एव स्यात्। तत्र च शुद्धायां चित्यविद्या, तद्विद्याकल्पितोपाधौ † तस्यामीश्वराख्यायां विद्येति, तथा विद्यावत्त्वेऽपि मायिकत्वमित्यसमञ्जसा च कल्पना स्यादित्याद्यनुसन्धेयम् ॥४०॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

ननु परिच्छेदादिवादद्वयेनास्माकं तात्पर्य्यं, तस्याज्ञबोधनाय कल्पितत्वात्, किन्त्वेकजीववाद एव तदस्ति।

* "तद्योगादशुद्धः" इति वा पाठः।

† "अविद्या तद्विद्याकल्पितोपाधौ" इत्यत्र "अविद्याकल्पितोपाधौ" इति पाठान्तरम्।

"स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्व्वम्।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत् परितुष्टिमेति ॥"

[कैवल्य १२]—

इत्यादि कैवल्योपनिषदि तस्यैवोपपादित्वात्। तद्वादश्चेत्थम्; "एकमेवाद्वितीयम्" इत्याद्युक्तश्रुतिभ्योऽद्वितीयश्चिन्मात्रो ह्यात्मा। स चात्मन्यविद्यया गुणमयीं मायां तद्वैषम्यजां कार्य्यसंहतिञ्च कल्पयन्नस्मदर्थमेकं युष्मदर्थांश्च बहून् कल्पयति। तत्रास्मदर्थः—स्वस्वरूपः पुरुषः। युष्मदर्थश्च—महदादीनि भूम्यन्तानि जड़ानि, स्वतुल्यानि पुरुषान्तराणि, सर्व्वेश्वराख्यः। पुरुषविशेषश्च—इत्येवं त्रिविधः।

"जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति।"

(नृसिंह० ६) इति श्रुत्यन्तराच्च—

गुणयोगादेव कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वे तत्रात्मन्यध्यस्ते, यथा स्वप्ने कश्चिद्राजधानीं राजानं तत्प्रजाश्च कल्पयति, तन्नियम्यमात्मानं च मन्यते, तद्वत्। जाते ज ज्ञाने, जागरे च सति, ततोऽन्यन्न किञ्चिदस्तीति चिन्मात्रमेकमात्मवस्त्विति। तमिमं वादं निराकर्त्तुमाह—इति ब्रह्मेति। इति—एवं, पूर्व्वोक्तरीत्या परिच्छेदादिवादद्वयस्य प्रत्याख्याने जाते, 'ब्रह्म च अविद्या च'—इति द्वयोः पर्य्यवसाने सतीत्यर्थः। अत्यन्ताभावास्पदत्वादिति—"अगृह्यो न हि गृह्यते" (वृ० आ० ३. ६. २६) इत्यादि श्रुतेरेवेत्यर्थः। विरोधस्तदवस्थ इति—विरोधत्वादेवाशक्यव्यवस्थापयितुमित्यर्थः *। तत्र च शुद्धायामिति—'शुद्धे ब्रह्मण्यकस्माद्-

* "अशक्यव्यवस्थापन इत्यर्थः" इति वा पाठः।

विद्यासम्बन्धस्तत्सम्बन्धात्तस्य जीवत्वम्। तेन जीवेन कल्पताया मायाया आश्रयो भूत्वा तद्ब्रह्मैवेश्वरः। तस्येस्वरस्य मायया परिभूतं ब्रह्मैव तज्जीवः। इत्यादि विप्रलापोऽयमविदुषामेव, नतु विदुषामिति भावः। मायिकत्वं—प्रतारकत्वमित्यर्थः। "स एव माया" इति श्रुतिस्तु ब्रह्मायत्तवृत्तिकत्वब्रह्मव्याप्यत्वाभ्यां ब्रह्मणोऽनतिरिक्तो * जीव इत्येव निवेदयन्ती गतार्था † "जीवेशौ" इति श्रुतिस्तु मायाविमोहितताकिंकादिपरिकल्पितजीवेशपरतया गतार्थेति न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥४०॥

हिन्दीटीका

इस प्रकार ब्रह्म और अविद्या का पर्यवसान होने पर ब्रह्म चित् मात्र अविद्या के योग से सदा रहित शुद्ध है, वही ब्रह्म अविद्या के योग से जीव है, पुनश्च वही जीव अविद्या द्वारा कल्पित माया का आश्रय ग्रहणकर ईश्वर है। और वही ईश्वर मायाविषयक होने के कारण जीव है तो विरोध फिर भी बना रहा। शुद्ध चित् में अविद्या एवं उस अविद्या कल्पित उपाधि में ईश्वर विद्या, तो विद्या युक्त में भी मायिकत्व है यह असमञ्जस कल्पना है। ध्यान रहे ॥४०॥

किञ्च, यद्यत्राभेद एव, तात्पर्य्यमभविष्यत्तर्ह्येकमेव ब्रह्माज्ञानेन भिन्नं, ज्ञानेन तु तस्य भेदमयं दुःखं विलीयत इत्यपश्यदित्येवावक्ष्यत् । तथा श्रीभगवल्लीलादीनां वास्तवत्वाभावे सति श्रीशुक-हृदय-विरोधश्च जायते ॥४१॥

* "नातिरिक्तः" इति वा पाठः।

† "निवेदयद्गतार्थो" इति वा पाठः।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

अनुपपत्त्यन्तरमाह ;—किञ्चेति । अत्र—श्रीभागवते शास्त्रे । इत्येवेति,—'पूर्णः पुरुषः कश्चिदस्ति, तदाश्रिततया मायया जीवो विमोहितोऽनर्थं भजति, तदनर्थोपशमनी च पूर्णस्य तस्य भक्तिः, इत्यपश्यत्—इत्येवं नावक्ष्यदित्यर्थः ॥४१॥

हिन्दीटीका

दूसरी बात यह है कि यदि यहाँ अभेद में तात्पर्य होता तो "एक ही ब्रह्म अज्ञान से भिन्न, ज्ञान से उसका भेदमय दुःख लीन होता है ऐसा" देखा, यह कहना चाहिये था । सब तो भगवान् की लीला आदि वास्तव नहीं हैं ऐसा कहने पर श्री शुक हृदय से विरोध होगा ॥४१॥

तस्मात्परिच्छेद-प्रतिबिम्बत्वादि—प्रतिपादक-शास्त्राण्यपि कथञ्चित्तत्सादृश्येन गौण्यैव वृत्त्या प्रवर्त्तेरन् ? "अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्" (ब्र० सू० ३.२.१९) "वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्" (ब्र० सू० ३.२.२०) इति पूर्वोत्तरपक्षमयन्यायाभ्याम् ॥४२॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

तस्मादिति ;—तत्सादृश्येन—परिच्छिन्नप्रतिबिम्बतुल्यत्वेनेत्यर्थः । 'सिंहो देवदत्तः' इत्यत्र यथा गौण्या वृत्त्या सिंहतुल्यत्वं देवदत्तस्यो-

च्यते, न तु सिंहत्वं, तद्वदित्यर्थः । नन्वेवं केन निर्णीतम्? इति चेत्, 'सूत्रकृता श्रीव्यासेनैव' इति तत् सूत्रद्वयं दर्शयति। तत्रैकेन तद्वादद्वय-मसम्भवान्निरस्यति,—(अम्बुवदिति; यथाम्बुना भूखण्डस्य परिच्छेदः, एवमुपाधिना ब्रह्मप्रदेशस्य स स्यात्? न, अम्बुना भूखण्डस्येव उपाधिना ब्रह्मप्रदेशस्य ग्रहणाभावात्। "अगृह्यो न हि गृह्यते" (बृह०३. ६. २६) इति हि श्रुतिः। अतो न तथात्वं, ब्रह्मण उपाधिपरिच्छिन्नत्वं न इत्यर्थः। यद्वा, अम्बुनि यथा रवेः प्रतिबिम्बः परिच्छिन्नस्य गृह्यते, एवमुपाधौ ब्रह्मणः प्रतिबिम्बो व्यापकस्य न गृह्यते; अतो न तथात्वं—तस्य प्रतिबिम्बो न इत्यर्थः। तर्हि शास्त्रद्वयं कथं सङ्गच्छते?) (तत्राह;—वृद्धीति द्वितीयेन। तद्द्वयं न मुख्य-वृत्त्या प्रवर्त्तते, किन्तु वृद्धिह्रासभाक्त्वं गुणांशमादायैव, यथा महदल्पौ भूखण्डौ, यथा रवितत्प्रतिबिम्बौ वृद्धिह्रासभाजौ, तथा परेशजीवौ स्याताम्। कुत? अन्तर्भावात्, एतस्मिन्नंशे शास्त्रतात्पर्य्यपूर्त्तेः। एवं सत्युभयोः—दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः, सामञ्जस्यात्—सङ्गतेरित्यर्थः।) पूर्व्वन्यायेन परिच्छेदादिवादद्वयस्य खण्डनम्, उत्तरन्यायेन तु गौणवृत्त्या तस्य व्यवस्थापनमिति। 'ब्रह्मणः खण्डः प्रतिबिम्बो वा जीव एव' इति सूत्रकृतां मतम् 'ईशोऽपि ब्रह्मणः खण्डः प्रतिबिम्बो वा' इति मायिनामीशविमुखानां मतमिति बोद्धव्यम्॥४२॥

हिन्दीटीका

अतएव परिच्छेद, प्रतिबिम्ब आदि प्रतिपादक शास्त्र भी किसी प्रकार उसका सादृश्य लेकर गौणीवृत्ति (लक्षणा) को लेकर प्रवृत्त होंगे। जैसे

जल से भूमिखण्ड का परिच्छेद वैसे उपाधिद्वारा ब्रह्म का परिच्छेद नहीं गृहीत हो सकता। सूर्य का प्रतिबिम्ब जल पर गिरता है उस प्रकार व्यापक ब्रह्म का प्रतिबिम्ब उपाधि पर नहीं पड़ सकता है। इनका पूर्वोत्तर-पक्ष न्याय से सामञ्जस्य नहीं है ॥४२॥

तत एवाभेदशास्त्राण्युभयोश्चिद्रूपत्वेन * जीवसमूहस्य दुर्घटघटनापटीयस्या स्वाभाविकतदचिन्त्यशक्त्या स्वभावत एव तद्रश्मिपरमाणुगणस्थानीयत्वाद्व्यतिरेकेणाव्यतिरेकेण च विरोधं परिहृत्याग्रे † मुहुरपि तदेतद्व्याससमाधिलब्धसिद्धान्त-योजनाय योजनीयानि ॥४३॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

तत इति—परिच्छेदादिशास्त्रद्वयस्य तत्सादृश्यार्थकत्वेन नीतत्वाद्देवहेतोः "त्वं वा अहमस्मि भगवो देव! अहं वै त्वमसि तत्त्वमसि" इत्यादीन्यभेदशास्त्राणि तदेतद्व्याससमाधिसिद्धान्तयोजनाय मुहुरप्यग्रे योजनीयानीति हेतुना। (यथा गौर-श्यामयोस्तरुणकुमारयोर्वा विप्रयोर्विप्रत्वेनैक्यम्। ततश्च जात्यैवाभेदो, न तु व्यक्त्योरित्यर्थः। तथा जीवसमूहस्य दुर्घटघटनापटीयस्या तदचिन्त्यशक्त्या स्वभावत एव तद्रश्मिपरमाणुगणस्थानीयत्वाद्व्यतिरेकेण, अव्यतिरेकेण च हेतुना विरोधं परिहृत्येति) परेशस्य खलु स्वरूपानुबन्धिनी पराख्या शक्ति

---

* "चेतनत्वेन" इति श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः पाठः।

† "परिहृत्यैवाग्रे" इति वा पाठः।

रुष्णतेव रवेरस्ति—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति मन्त्रवर्णात्, 'विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता" इति स्मरणाच्च। सा हि तदितरान्निखिलान्नियमयति। यस्मात् तदन्ये सर्व्वेऽर्थाः स्व-स्वभावमत्यजन्तो वर्त्तन्ते। प्रकृतिः कालः कर्म च स्वान्तः-स्थितमपीश्वरं स्प्रष्टुं न शक्नोति, किन्तु ततो बिभ्यदेव स्वस्वभावे तिष्ठति। जीवगणश्च तत्स्वजातीयोऽपि न तेन संपर्चितुं शक्नोति किन्तु तमाश्रयन्नेव वृत्तिं लभते, मुख्यप्राणमिव श्रोत्रादिरिन्द्रियगण इति। तथा च "यद्वृत्तिर्यदधीना स तद्रूपः" इत्यभेदशास्त्रस्यापि भेदशास्त्रेण सार्द्धमविरोधोऽयं श्रीव्याससमाधिलब्धसिद्धान्तसव्यपेक्ष इति तथा चात्रेश-जीवयोः स्वरूपाभेदो नास्तीति सिद्धम् ॥४३॥

हिन्दीटीका

अतः अभेद प्रतिपादक शास्त्र 'तत्वमसि' का जीव ब्रह्म दोनों के चिद् रूप से सादृश्य में तात्पर्य है एवं जीव समूह अघटित घटना-पटीयसी स्वाभाविक अचिन्त्य शक्ति द्वारा व्यक्तिगतभेद जीवेश्वर का है। यही चिदंश में अभेद व्यक्त्यंश जीवेश्वर भेद अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त है। जैसे सूर्य और उसकी किरण या परमाणु-समूह सूर्य से भिन्न भी हैं। अभिन्न भी हैं अर्थात् विरोध का परिहार कर फिर भी श्रीव्यास जी की समाधि में लब्धसिद्धान्त से उसे समन्वित किया जाय ॥४३॥

तदेवं मायाश्रयत्व-मायामोहितत्त्वाभ्यां स्थिते द्वयोर्भेदे* तद्भजनस्यैवाभिधेयत्वमायातम् ॥४४॥

*"तयोर्भेदे" इति वा पाठः।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

तदेवमिति स्फुटार्थम् । तद्भजनस्य—मायानिवारकस्येत्यर्थः ॥४४॥

हिन्दीटीका

ईश्वर माया का आश्रय तथा जीव माया से मोहित इस प्रकार दोनों का भेद है अतः श्री भगवान् का भजन ही अभिधेय है ॥४४॥

अतः श्रीभगवत एव सर्व्वहितोपदेष्टृत्वात्, सर्व्वदुःख-हरत्वात्, रश्मीनां सूर्य्यवत् सर्व्वेषां परमस्वरूपत्वात्, सर्व्वाधिक-गुणशालित्वात्, परमप्रेमयोगत्वमिति प्रयोजनञ्च स्थापितम् ॥४५॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

मायामोहनिवारकत्वाद्यस्य भजनमभिधेयं, स भगवानेव भजतां प्रेमयोग्य इत्यर्थादागतमित्याह ;—अत इति । अतः—मायामोह-निवारकभजनत्वाद्भगवत एव परमप्रेमयोग्यत्वमिति सम्बन्धः । जीवात्मा प्रेमयोग्यः, परमात्मा भगवांस्तु परमप्रेमयोग्य इत्यर्थः । कुतः ? इत्यपेक्षायां हेतुचतुष्टयमाह—सर्व्वेति । रश्मीनामित्यादि—सूर्य्यो यथा रश्मीनां स्वरूपं न, किन्तु परमस्वरूपमेव भवति एवं जीवानां भग-वान्—इति स्वरूपैक्यं निरस्तम् । अन्तर्यामि-ब्राह्मणात् सौवालब्राह्मणाच्च 'जीवात्मानः परमात्मनः शरीराणि भवन्ति, स तु तेषां शरीरी' इति भेदः प्रस्फुटो ज्ञातः । अतः सर्व्वाधिकेति ॥४५॥

हिन्दीटीका

श्रीभगवान ही सबके हितोपदेशक, सकल दुःख हर, किरणों के सूर्यवत् परम स्वरूप, सर्व्वाधिक गुणशाली हैं, अतः, परम प्रेमयोग्य हैं यह प्रयोजन स्थापित हुआ ॥४५॥

तत्राभिधेयञ्च तादृशत्वेन दृष्टवानपि, यतस्तत्प्रवृत्त्यर्थं श्रीभागवताख्यामिमां सात्वतसंहितां प्रवर्त्तितवानित्याह, अनर्थेति। भक्तियोगः—श्रवणकीर्तनादिलक्षणः साधनभक्तिः, न तु प्रेमलक्षणः। अनुष्ठानं ह्युपदेशापेक्षं, प्रेम तु तत्प्रसादापेक्षमिति। तथापि तस्य तत्प्रसादहेतोस्तत्प्रेमफलगर्भत्वात् साक्षादेवानर्थोपशमनत्वं, * न त्वन्य † सापेक्षत्वेन "यत् कर्म्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्" इत्यादौ (भा० ११. २०. ३२), "सर्व्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गापवर्गम्" (भा० ११, २०, ३३) इत्यादेः ज्ञानादेस्तु भक्तिसापेक्षत्वमेव, "श्रेयः सृतिं भक्तिम्" (भा० १०, १४, ४) इत्यादेः। अथवा; अनर्थस्य—संसारव्यसनस्य तावत् साक्षात् अव्यवधानेनोपशमनं, सम्मोहादिद्वयस्य तु ‡ प्रेमाख्यस्वीयफलद्वारेत्यर्थः। अतः पूर्व्ववदेवात्राभिधेयं दर्शितम् ॥४६॥

*"अनर्थोपशमत्वम्" इति श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः पाठः।

†"न त्वन्य" इत्यत्र "सत्वस्य" इति पाठान्तरं श्रमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्यसम्मतम्।

‡ "मोहादिद्वयस्य तु" इति श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः पाठः।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

तत्राभीति, तादृशत्वेन मायानिवारकत्वेन। दृष्टवानपि श्रीव्यासः। अनुष्ठानं—कृतिसाध्यम् । तत्प्रसादेति—भगवदनुग्रहेत्यर्थः । तस्य—श्रवणादिलक्षणस्य । अन्यसापेक्षत्वेन—कर्म्मादिपरिकरत्वेन । ज्ञानादेस्त्विति—ज्ञानमत्र "यस्य ब्रह्म" इत्युक्तब्रह्मविषयकम् । सम्मोहादीत्यादिपदादात्मनो जड़देहादिरूपतामननं ग्राह्यम्। अत इति। अत्र—अनर्थेति वाक्ये ॥४६॥

हिन्दीटीका

श्रीव्यास ने समाधि में भक्तियोग को भगवत्प्राप्ति के निमित्त देखा। अतः उसकी प्रवृत्ति के लिये भागवत नामक सात्वत संहिता को प्रकट किया। अनर्थ को दूर करनेवाला—भक्तियोगश्रवण, कीर्तन आदि साधन भक्ति, न कि प्रेमलक्षणा। अनुष्ठान में उपदेश की तथा प्रेम में उनकी कृपा की अपेक्षा है । तथापि भगवान् की प्रसन्नता का कारण तथा उनके प्रेमफल गर्भित होने से साक्षात् अनर्थ का उपशामक है अन्य की अपेक्षा में नहीं। "जो कर्मों से, तप से एवं ज्ञान-वैराग्य से" इत्यादि में "सबकुछ मेरा भक्त मेरे भक्ति-योग से अनायास लाभ करता है स्वर्ग और मोक्ष" इत्यादि ज्ञानादि भक्ति सापेक्ष्य हैं अर्थात् भक्ति के बिना ज्ञान से कुछ नहीं। "श्रेय को उत्पन्न करनेवाली भक्ति" अथवा—संसार का कष्ट रूपी अनर्थ तबतक साक्षात् शमन होता है। सम्मोहादि दो का अपने स्वीय फल द्वारा—अतः पूर्ववत् अभिधेय दिखाया ॥४६॥

अथ पूर्व्ववदेव प्रयोजनञ्च स्पष्टयितुं पूर्व्वोक्तस्य पूर्णपुरुषस्य च श्रीकृष्णस्वरूपत्वं व्यञ्जयितुं, ग्रन्थफलनिर्द्देशद्वारा तत्रतदनुभवान्तरं प्रतिपादयन्नाह,—यस्यामिति । भक्तिः—प्रेमा, श्रवणरूपया साधनभक्त्या साध्यत्वात् । उत्पद्यते—आविर्भवति । तस्यानुषङ्गिकं गुणमाह—शोकेति, अत्रैषां संस्कारी अपि नश्यतीति भावः ।

"प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्" इति (भा० ५,५,६) श्रीऋषभदेववाक्यात् । परमपूरुषे पूर्व्वोक्तपूर्णपुरुषे । किमाकारे ? इत्यपेक्षायामाह, कृष्णे—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्यादि शास्त्रसहस्रभावितान्तःकरणानां परम्परया तत्प्रसिद्धिमध्यपातिनाञ्चासंख्यलोकानां तन्नामश्रवणमात्रेण ✻ यः प्रथमप्रतीतिविषयः स्यात्, तथा तन्नाम्नः प्रथमाक्षरमात्रं मन्त्राय कल्पमानं यस्याभिमुख्याय स्यात्—तदाकारे इत्यर्थः । आहुश्च नामकौमुदीकाराः ;—

"कृष्णशब्दस्य तमालश्यामलत्विषि यशोदायाः स्तनन्धये ब्रह्मणि रूढिः" इति ॥४७॥

† "यन्नाममात्रेण" इति श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः पाठः ।

श्री बलदेवविद्याभूषणकृतटीका

अथेति ;—प्रयोजनं भगवत्प्रेमलक्षणम्। अत्रेति,—तत्र समाधौ श्रीव्यासस्यान्यमनुभवमित्यर्थः। आविर्भवतीति—प्रेम्नः परा सारांशत्वेनो-त्पत्त्यसम्भवादित्यर्थः। अस्येति—प्रेम्नः। अत्र—प्रेम्नि सति। "कृष्णस्तु भगवान्" इति—श्रीसूतादीनां श्रीजयदेवादीनाञ्चासंख्य-लोकानामित्यर्थः। 'तन्नाम' इति चोभयत्र कृष्णेति नाम बोध्यम्। रूढिरिति, —प्रकृतिप्रत्ययसम्बन्धं विनैव यशोदासुते प्रसिद्धिर्मण्डपशब्दस्येव गृहविशेषे इत्यर्थः ॥४७॥

हिन्दीटीका

पूर्व के तुल्य प्रयोजन को स्पष्ट करने के लिये पूर्वोक्त पूर्ण पुरुष श्रीकृष्ण का स्वरूप व्यक्त करने के लिये ग्रन्थ फल निर्देश द्वारा दूसरा अनुभव प्रतिपादन करते हुए कहते हैं "जिससें"। भक्तिः = प्रेमा, श्रवण-रूपा साधनभक्ति से साध्य है। उत्पन्न होती है = आविर्भूत होती है। उसका आनुषङ्गिक गुण = शोक दूर करनेवाली। यहाँ इनका संस्कार भी नष्ट हो जाता है। जबतक मुझ वासुदेव में प्रीति नहीं तबतक देह योग से मुक्त नहीं। इस ऋषभदेव जी के वाक्य से। परमपूरुष = पूर्वोक्त पूर्ण पुरुष में। उनका क्या स्वरूप श्री कृष्ण "श्री कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं, इत्यादि शास्त्र से सहस्र बार जिनका अन्तःकरण भावित हो चुका है उनकी परम्परा से प्रसिद्धि में प्राप्त असंख्य जन का उनके नाम श्रवण मात्र से जो प्रथम प्रतीति का विषय हो एवं उनके नाम का प्रथम अक्षर मन्त्र है "क्लीं" जिनके साम्मुख्य को प्रदान करता है इस प्रकार

के श्रीकृष्ण। भगवन्नामकौमुदीकार ने कहा, "कृष्ण शब्द तमाल के रंग-वाले यशोदा के स्तन-पान करनेवाले परब्रह्म में रूढ है" ॥४७॥

अथ तस्यैव प्रयोजनस्य ब्रह्मानन्दानुभवादपि परमत्वमनुभूतवान्। यतस्तादृशं शुकमपि तदानन्दवैशिष्ट्यलम्भनाय तामध्यापयामासेत्याह,—स संहितामिति। कृत्वानुक्रम्य चेति—प्रथमतः स्वयं संक्षेपेण कृत्वा, पश्चात्तु श्रीनारदोपदेशादनुक्रमेण विवृत्येत्यर्थः। अतएव श्रीमद्भागवतं भारतानन्तरं यदत्र श्रूयते, यच्चान्यत्राष्टादशपुराणानन्तरं भारतमिति, तद्‌द्वयमपि समाहितं स्यात्। ब्रह्मानन्दानुभवनिमग्नत्वात् निवृत्तिनिरतं—सर्व्वतो निवृत्तौ निरतं, तत्राव्यभिचारिणामपीत्यर्थः ॥४८॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

अथेति ;—ब्रह्मानन्दात्—यस्य ब्रह्मेत्युक्तवस्तुसुखादपि। परमत्वं—उत्कृष्टत्वमनुभूतवान् श्रीव्यासः। तादृशं—तदानन्दानुभविनमपि। तदानन्देति कृष्णप्रेमानन्दप्रापणायेत्यर्थः। अत एवेति। यदत्रेति; अत्र श्रीभागवते। अन्यत्र मात्स्यादौ ;—

"अष्टाशपुराणानि कृत्वा सत्यवती सुतः।
चक्रे भारतमाख्यानं वेदार्थैरुपबृंहितम् ॥"

इत्यनेनेत्यर्थः। तत्रेति—निवृत्तावित्यर्थः ॥४८॥

हिन्दीटीका

उस प्रयोजन का ब्रह्मानन्द से भी परम (अधिक) अनुभव किया। क्योंकि श्री शुक जैसे को भी उसके आनन्द विशेष लाभ के लिये पढ़ाया। पहिले उसे संक्षेप में करके पुनः श्रीनारद के उपदेश से विस्तार किया। अतः श्री भागवत भारत के अनन्तर ऐसा सुनते हैं, जोकि १८ पुराणों के अनन्तर भारत यह दोनों ही समाहित हुए। ब्रह्मानन्द में निमग्न ऐसा कहने से निवृत्ति में रत अर्थात् निवृत्ति में निरन्तर रत उससे कभी भी भिन्न नहीं यह अर्थ है ॥४८॥

तमेतं श्रीवेदव्यासस्य समाधि-जातानुभव श्रीशौनक-प्रश्नोत्तरत्वेन विशदयन् सर्व्वात्मारामानुभवेन सहेतुकं संवादयति,—आत्मारामाश्चेति। निर्ग्रन्थाः—विधिनिषेधातीताः, निर्गताहंकारग्रन्थयो वा। अहैतुकीं—फलानुसन्धिरहिताम्। अत्र सर्व्वाक्षेपपरिहारार्थमाह ;—इत्थम्भूतः—आत्मारामाणामप्याकर्षणाभावो गुणो यस्य स इति। तमेवार्थं श्रीशुकस्याप्यनुभवेन संवादयति, हरेर्गुणेति। श्रीव्यासदेवात् * यत्किञ्चित् श्रुतेन गुणेन पूर्व्वमाक्षिप्ता मतिर्यस्य सः, पश्चादध्यागात् महद्विस्तीर्णमिति। ततश्च तत्संकथासौहार्द्देन नित्यं विष्णुजनाः प्रिया यस्य तथाभूतो वा, तेषां प्रियो वा स्वयमभवदित्यर्थः।

* "श्रीव्यासादेव" इति वा पाठः।

अयं भावः,—ब्रह्मवैवर्त्तानुसारेण पूर्व्वं तावदयं गर्भमारभ्य श्रीकृष्णस्य स्वैरितया मायानिवारकत्वं ज्ञातवान्। ततः स्वनियोजनया श्रीव्यासदेवेनानीतस्य तस्यान्तर्द्दर्शनात्तन्निवारणे सति, कृतार्थम्मन्यतया स्वयमेकान्तमेव गतवान्। तत्र श्रीवेद-व्यासस्तु तं वशीकर्त्तुं तदनन्यसाधनं श्रीभागवतमेव ज्ञात्वा, तद्गुणातिशय प्रकाशमयांस्तदीयपद्यविशेषान् कथञ्चित् श्रावयित्वा, तेन तमाक्षिप्तमतिं कृत्वा, तदेव पूर्णं तमध्यापयामासेति श्रीभागवतमहिमातिशयः प्रोक्तः।

तदेवं दर्शितं—वक्तुः श्रीशुकस्य वेदव्यासस्य च समानहृदयम्। तस्माद्वक्तुर्हृदयानुरूपमेव सर्व्वत्र तात्पर्य्यं पर्य्यालोचनीयं, नान्यथा। यद्यत्तदन्यथा पर्य्यालोचनं, तत्र तत्र कुपथ गामितत्त्वेति निष्टङ्कितम्। १।७ श्रीसूतः ॥४६॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

समाधि दृष्टास्यार्थस्य सर्व्वतत्त्वज्ञ-सम्मतत्वमाह,—तमित्यादिना। निर्गताहङ्कारेति, महतत्त्वाज्जातोऽयमहङ्कारः, न तु स्वरूपानुसन्धिनीति बोध्यं, द्वितीये सन्दर्भे एवमेव निर्णेष्यमाणत्वात्। तदीयपद्यविशेषानिति — पूतनाधात्रीगतिदान - पाण्डवसारथ्य - प्रतीहारत्वादिप्रदर्शकान् कतिचित् श्लोकानित्यर्थः। ब्रह्मवैवर्त्ते शुको योनिजातः, भारते त्वयो-

निजातः कथ्यते, दारग्रहणं कन्यासन्ततिश्चेति । तदेतत् सर्व्वं कल्पभेदेन सङ्गमनीयम् ।।४६।।

हिन्दीटीका

उस श्रीभागवत को जो—कि श्रीव्यास जी की समाधि में जिसका अनुभव हुआ था श्री शौनक के प्रश्नोत्तर रूप में विस्तार करते हुए सर्वात्माराम अनुभव को हेतु के साथ संगत करते हैं। आत्मारामाश्च और निर्ग्रन्थ = विधिनिषेधातीत अथवा अहंकारग्रन्थिशून्य। अहैतुकी = फल की इच्छा से रहित, सभी आक्षेपों को दूर करने के लिये-इत्थंभूत-आत्मारामों को भी आकर्षण करना स्वाभाविक गुण जिसमें हों ऐसे श्रीहरि हैं। उसी अर्थ को श्रीशुक के अनुभव से संगत करते हैं = हरि के गुण इत्यादि। श्रीव्यास द्वारा कुछ थोड़ा सुने गुणों में पूर्व में आक्षिप्त = आकृष्ट मति जिनकी उन्होंने पीछे विस्तार किया। अतः उनकी कथा के प्रेम से सदा वैष्णवों के प्रिय या वैष्णव हैं प्रिय जिनको स्वयं हो गये सारांश यह कि ब्रह्मवैवर्त के अनुसार पहिले ये गर्भ से लेकर श्रीकृष्ण को माया का निवारक जानते थे। पुनश्च व्यास जी उनको अपने समीप में लाये और उनका अन्तर्दर्शन कर उससे अपने को कृतार्थ मानकर स्वयं एकान्त में ले गये। श्री व्यास ने उनको अपने वश में करने के लिये एक मात्र श्रीमद्भागवत को साधन मानकर भगवद्गुण के अतिशय प्रकाश से पूर्ण कई एक श्लोक सुनाये उससे उनका मन आकृष्ट हुआ। तब उन्होंने संपूर्ण भागवत पढ़ाया यह श्री भागवत की अधिक महिमा कही गई। इस प्रकार श्रीशुक एवं वक्ता व्यास का समान हृदय

दिखाया। अतः वक्ता के हृदय के अनुसार सब जगह तात्पर्य की आलोचना करनी अन्यथा नहीं, जो अन्यथा आलोचना करेगा वह कुपथगामी है यह निश्चय है। श्रीसूतः ॥४९॥

अथ क्रमेण विस्तरतस्तथैव तात्पर्य्यं निर्णेतुं सम्बन्धाभिधेय-प्रयोजनेषु षड्भिः सन्दर्भैर्निर्णेष्यमाणेषु प्रथमं यस्य वाच्यवाचकतासम्बन्धीदं शास्त्रं, तदेव—"धर्म्मः प्रोज्झितकैतवः" इत्यादि-पद्ये सामान्याकारतस्तावदाह;—"वेद्यं वास्तवमत्रवस्तु" (भा०-१.१.२) इति ॥

टीका च,—"अत्र श्रीमति सुन्दरे भागवते वास्तवं परमार्थ-भूतं वस्तुवेद्यं, न तु वैशेषिकादिवद् द्रव्यगुणादिरूपम्" इत्येषा ।१। श्रीवेदव्यासः ॥५०॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

संक्षेपेणोक्तं सम्बन्धादिकं विस्तरेण दर्शयितुमुपक्रमते अथेत्यादि। तथैवेति श्रीशुकादिहृदयानुसारेणेत्यर्थः। सामान्यत इति अनिर्दिष्ट-स्वरूपगुणविभूतिकथनायेत्यर्थः ॥५०॥

हिन्दीटीका

अतः क्रमशः विस्तार के साथ वैसा ही तात्पर्य निर्णय के लिये सम्बन्ध, अभिधेय प्रयोजन का छः सन्दर्भों में निर्णय करेंगे। उसमें प्रथम जिसका वाच्य - वाचक (अर्थ = शब्द) सम्बन्धी यह शास्त्र है, वही "धर्मः

प्रोज्झित" श्लोक में सामान्याकार से कहते हैं "इस भागवत वास्तव वस्तु का ज्ञान करना चाहिये" इसकी टीका—इस सुन्दर श्री भागवत में परमार्थ वस्तु वेद्य = ज्ञातव्य है, वैशेषिक के समान द्रव्यगुणादिरूप नहीं" श्रीव्यासः ॥५०॥

अथ किं रूपं तद्वस्तुतत्त्वमित्याह ;—

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्" (भा० १.२.११) इति। ज्ञानं—चिदेकरूपं। अद्वयत्वञ्चास्य स्वयंसिद्ध-तादृशातादृशतत्त्वान्तराभावात् * स्वशक्त्येकसहायत्वात्, परमाश्रयं तं विना तासामसिद्धत्वाच्च। 'तत्त्वम्' इति परमपुरुषार्थता द्योतनया परमसुखरूपत्वं तस्य † त्वं बोध्यते। अतएव तस्य नित्यत्वञ्च दर्शितम् ॥१।२। श्रीसूतः ॥५१॥

स्वरूपनिर्देशपूर्व्वकं तत्त्वं वक्तुमवतारयति—अथ किमिति, स्वयं-सिद्धेति—आत्मनैव सिद्धं खलु स्वयंसिद्धमुच्यते। "स्वयं दासास्तपस्विनः" इत्यत्र तपस्विदास्यमात्मना तपस्विनैव सिद्धं प्रतीयते, तद्वत्। तादृशञ्च—परेशवस्त्वेव, न तु तादृशमपि जीवचैतन्यं, न स्वेतादृशं प्रकृतिकाललक्षणं जड़वस्तु ; तदभावादद्वयत्वम्। तयोः स्वयं सिद्धत्वभावः कुतः। इत्यत्राह,—परमाश्रयं तं विनेति। स्वशक्त्येकसहायेऽप्यद्वयपदं

* "स्वयंसिद्धतातत्त्वान्तराभावात्" इत्यत्र—"स्वतः सिद्ध-तादृशतत्त्वान्तराभावात्" इति श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्यैरुक्तम्।

† "ज्ञानस्य" इत्यधिकपाठः क्वचित्।

प्रयुज्यते,—'धनुर्द्वितीयः पाण्डुः' इति। ननु वेदान्ते 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति, विज्ञानानन्दस्वरूपं ब्रह्म पठ्यते, इह ज्ञानमिति कथम्। तत्राह,—तत्त्वमिति। इदमत्र तत्त्वमित्युक्ते सारे वस्तुनि तत्त्वशब्दो नीयते। सारञ्च सुखमेव, सर्व्वेषामुपायानां तदर्थत्वात्, तथा च सुखरूपत्वमपि तस्यागतम्। ननु ज्ञानं सुखञ्चानित्यं दृष्टं। तत्राह;— अतत्त्वेति स्वयंसिद्धत्वेन व्याख्यानान्नित्यं तदित्यर्थ-। "सद्कारणं यत्तन्नित्यम्" इति हि तीर्थकाराः। एवञ्च तादृशब्रह्मसम्बन्धीदं शास्त्रमित्युक्तम्॥५१॥

हिन्दीटीका

उस वस्तु तत्त्व का क्या स्वरूप है—तत्त्ववेत्ता जिस तत्त्व को जानते हैं उसे अद्वैत कहते हैं। ज्ञान = चित् एकरूप। अद्वय स्वयं सिद्ध है क्योंकि दूसरा वैसा तत्त्व ही नहीं है। अपनी ही एक शक्ति जिनको सहायक है, उस परमाश्रय के बिना समस्त शक्तियाँ असिद्ध हैं। तत्त्व शब्द परम पुरुषार्थता को प्रकाशित करनेवाला होने से परम सुखरूप बताया है। अतः उसे नित्य भी बताया गया श्रीसूत द्वारा। नील, पीत आदि आकार युक्त ज्ञान क्षणिक देखा गया फिर वह नित्य अद्वय ज्ञान किस प्रकार लक्षित हुआ, जिसको लेकर यह शास्त्र चला उसका उत्तर "सभी वेदान्तों का सार ब्रह्मात्म स्वरूप वह अद्वितीय वस्तु परक है" जिसका स्वरूप सत्य, ज्ञान, अनन्त है। जिससे न सुना भी सुना है, जिस विज्ञान से समस्त विज्ञान ज्ञात हैं, हे सौम्य पूर्व में वह सत् था, इससे सम्पूर्ण जगत् का एक कारणत्व, उसने देखा मैं बहुत ही जाऊँ, इससे सत्य संकल्पता प्रतिपादित हुई। उस ब्रह्म ने स्वरूप और शक्ति

के द्वारा सकल महत्तत्व के साथ "इस जीवात्मा" ने इस उनकी उक्ति में "इदम्" का निर्देश उससे भिन्न में भी आत्मता का निर्देश किया, अतः उसकी आत्मांशविशेष से प्राप्त श्रीव्यास समाधि में देखी युक्ति से अभेद शून्य जीवात्मा का एकत्व है "तत्वमसि" वाक्य में ज्ञात उसका अंशभूत चित् रूप से समान स्वरूप है, वह स्वरूप हैं प्रथम ज्ञान का साधक जिसका ऐसा समस्त वेदान्तों का सार अद्वितीय वस्तु, तत्सम्बन्धी एवं तद्विषयक श्रीभागवत है यह प्रथम श्लोक से संगत हुआ। जैसे कोई जन्म से घर की गुफा में बन्द था और सूर्य के ज्ञान की इच्छा से किसी प्रकार झरोखे से आते हुए सूर्य-किरणों को दिखाकर कोई कहता है कि यह सूर्य है, यह उसका अंश प्रकाश है, इसका समानाकार महाज्योति-मण्डल अनुसंधान करो, इस प्रकार। जीव ब्रह्म का अंश है उसका शक्तिविशेष से सिद्ध है यह परमात्मा संदर्भ में स्थापना करेंगे। इस प्रकार जीव आदि स्वरूप अंश विशिष्ट उपनिषद् हैं उनमें अंश सहित कहीं-कहीं उपदेश हैं। निरंश श्रुतियाँ केवल ब्रह्मनिष्ठ हैं। इसमें कैवल्य का प्रयोजक चौथा पाद है। कैवल्य पद का शुद्धमात्र अर्थ है तथा शुद्ध का अर्थ शुद्ध भक्ति में पर्यवसान है यह प्रीतिसन्दर्भ में व्याख्या करेंगे। श्रीसूत जी ॥५१॥

ननु नीलपीताद्याकारं क्षणिकमेव ज्ञानं दृष्टं, तत् पुनरद्वय-नित्यं ज्ञानं कथं लक्ष्यते, यन्निष्ठमिदं शास्त्रम्? इत्यत्राह *;—"सर्व्ववेदान्तसारं यद्ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्। वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठम्" (भा० १२.१३.१२) इति ॥

*"इत्याह" इति गोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः पाठः।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति० २.१.१.१.) इति यस्य स्वरूपमुक्तम्, "येनाश्रुतं श्रुतं भवति" (छान्दो०६.१.३.) इति "यद्विज्ञानेन सर्व्वविज्ञानं प्रतिज्ञातं" "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" (छान्दो० ६.२.२.) इत्यादिना निखिलजगदेक-कारणता, "तदैक्षत बहु स्याम्"(छान्दो० ६.२.३.) इत्येनेन सत्य सङ्कल्पता च यस्य प्रतिपादिता, तेन ब्रह्मणा स्वरूपशक्तिभ्यां सर्व्वबृहत्तमेन सार्द्धम्, अनेन जीवेनात्मना इति तदीयोक्ता-विदन्तानिर्द्देशेन ततो भिन्नत्वेऽप्यात्मतानिर्द्देशेन तदात्मांश-विशेषत्वेन लब्धस्य वादरायणसमाधिदृष्टयुक्तेरत्यभिन्नतारहि-तस्य * जीवात्मनो यदेकत्व, † "तत्त्वमसि" (छान्दो० ६. ८.७.) इत्यादौ (A) ज्ञाता (B) तदंशभूतचिद्रूपत्वेन समाना कारता, तदेव लक्षणं प्रथमतो ज्ञाने साधकतमं यस्य; तथाभूतं यत् सर्व्ववेदान्तसारमद्वितीयं वस्तु, तन्निष्ठं—तदेकविषयमिदं

* "अत्यन्ताभिन्नताररतिस्य" इति वा पाठः ।

† अत्र "तद्वाक्यैकवाक्यतया" इति पाठाधिक्यं श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्य-टिप्पणीदृष्ट्यानुमीयते ।

(A) "इत्यादिश्रुतौ" इति गोस्वामिभट्टाचार्य्यधृत: पाठः ।

(B) "ज्ञाता" इति "समानाकारता" इत्यस्यान्ते पठितम्, तत्तु विद्वद्भिर-भिधेयम् ।

श्रीभागवतमिति प्राक्तनपद्यस्थेनानुषङ्गः । यथा (C) जन्मप्रभृति-कश्चिद्गृहगुहावरुद्धः सूर्यं विविदिषुः कथञ्चिद्गवाक्षपतितं, सूर्य्यांशुकणं दर्शयित्वा केनचिदुपदिश्यते 'एष सः' इति, एतत्त-दंशज्योतिः समानाकारतया तन्महाज्योतिर्मण्डलमनुसन्धीयता (D) मित्यर्थस्तद्वत् । जीवस्य तथा तदंशत्वञ्च तच्छक्ति- E) विशेषसिद्धत्वेनैव परमात्मसन्दर्भे स्थापयिष्यामः । तदेतज्जीवादि-लक्षणांशविशिष्टतयैवोपनिषदस्तस्य सांशत्वमपि क्वचिदुपदि शन्ति । निरंशत्वोपदेशिका श्रुतिस्तु केवलतन्निष्ठा । अत्र 'कैवल्यैकप्रयोजनम्' इति चतुर्थपादश्च कैवल्यपदस्य शुद्धत्वमात्र-वचनत्वेन, शुद्धत्वस्य च शुद्धभक्तित्वेन पर्य्यवसानेन प्रीति-सन्दर्भे व्याख्यास्यते ।१२।१३। श्रीसूतः ॥५२॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

आर्थिकं नित्यत्वं स्थिरं कुर्व्वन् शास्त्रस्य विशिष्टब्रह्मसम्बन्धित-त्त्वमाह ;— ननु नीलेत्यादिना । अनेन—जीवेनेत्यादि । तदीयोक्तौ—परदेवतावाक्ये । तदात्मांशविशेषत्वेन—तद्विभिन्नांशत्वेन, न तु मत्स्या-

(C) "तथा" इति गोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः पाठः ।

(D) "अनुसन्धीयते" इति गोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः पाठः ।

(E) "तच्छक्ति--" इत्यत्र "तदचिन्त्यशक्ति" इति गोस्वामिभट्टाचार्यधृतः पाठः ।

दिवत् स्वांशत्वेनेत्यर्थः। जीवात्मनो यदेकत्वमिति,—जीवस्य चिद्-रूपत्वेन जात्या यद् ब्रह्मसमानाकारत्वं, तदेव तस्य ब्रह्मणा सहैक्यमिति व्यक्तिभेदः प्रस्फुटः। एवमेव यथेत्यादिदृष्टान्तेनापि दर्शितः। तदेत-दिति,—उपनिषदः "सोऽकामयत बहु स्याम्" इत्याद्याः। निरंशत्वो-पदेशिकेति ;—

"सत्यं ज्ञानमनन्तं," (तैत्ति० २. १.) "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।" (श्वेत० ६. १६) इत्याद्या श्रुतिस्तु—केवलतन्निष्ठाः विशेष्यमात्रपरेत्यर्थः। अनभिव्यक्तसंस्थानगुणकं ब्रह्मवदतीति यावत् ॥५२॥

हिन्दीटीका

यदि त्वम् पद का अर्थ जीवात्मा का ज्ञानत्व नित्यत्व प्रथम-द्रष्टव्य होगा, तभी 'तत्' पदार्थ का वैसा ज्ञान करना सुगम होगा "अन्य का ज्ञान अन्य से" इस न्याय से जीवात्मा का स्वरूप कहते हैं। आत्मा-शुद्ध जीव उत्पन्न नहीं हुआ, जन्म नहीं तो उसके अनन्तर अस्तित्व आदि विकार भी नहीं हैं। वह बढ़ता भी नहीं, बढ़ता नहीं विपरिणाम भी निरस्त हुआ। क्योंकि आने-जानेवाली बाल, युवा आदि देहों का अथवा देव, मनुष्य आदि आकारवाली देहों का तत्काल द्रष्टा नकि अवस्थावालों का द्रष्टा तदवस्थ नहीं होता। वह आत्मा निरवस्थ है अर्थात् अवस्थातीत है अतः उसे ज्ञानैकस्वरूप कहा। कैसा है वह? सब देशों में निरन्तर सर्वदा वर्तमान है। नील ज्ञान नष्ट हुआ, पीत ज्ञान उत्पन्न हुआ ; इस प्रतीति से ज्ञान भी नाशवान

है ? अतः कहा गया कि इन्द्रिय के बल से :—सद् ज्ञान एक ही इन्द्रिय के बल से अनेक रूप हैं। नीलाकार वृत्तियाँ होती हैं, नष्ट होती हैं, पर ज्ञान नष्ट नहीं होता । यही यातायात और उसकी अवधि के भेद से प्रथम तर्क है । द्रष्टा और दृश्य के भेद से दूसरा तर्क है । व्यभिचारि में स्थित अव्यभिचार में दृष्टान्त जैसे प्राण ॥५२॥

तत्र यदि त्वम्पदार्थस्य जीवात्मनो ज्ञानत्वं नित्यत्वञ्च प्रथमतो विचारगोचरः स्यात्तदैव तत्पदार्थस्य * तादृशत्वं सुबोधं स्यादिति तद्बोधयितु "अन्यार्थश्च परामर्शः" † (ब्र० सू० १. ३. २०) इति न्यायेन जीवात्मनस्तद्रूपत्वमाह ;

"नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि ।
सर्व्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥" (भा० ११. ३८.)

आत्मा—शुद्धो जीवः, न जजान—न जातः जन्माभावादेव तदनन्तरास्तिता- लक्षणो विकारोऽपि नास्ति । नैधते न

---

* श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्यटिप्पण्यां "तस्य" इति पाठाधिक्यं—"तत्पदार्थस्य" इत्यस्यान्त एव सम्भवेत् ।

† "परामर्श्यः" इति गोस्वामिभट्टाचार्य्यधृतः पाठः ।

"अस्तित्व" इति गोस्वामिभट्टाचार्य्याः ।

वर्द्धते; वृद्ध्याभावादेव विपरिणामोऽपि निरस्तः हि—यस्मात्, व्यभिचारिणां—आगमापायिनां,—बालयुवादिदेहानां देवमनुष्याद्याकारदेहानां वा, सवनवित्—तत्तत्कलद्रष्टा; न ह्यवस्थावतां द्रष्टा तदवस्थो भवतीत्यर्थः। निरवस्थः कोऽसावात्मा? अत आह, उपलब्धिमात्रं—ज्ञानकरूपम्? कथम्भूतम् सर्व्वत्र—देहे, शश्वत्—सर्व्वदा अनुवर्त्तमानमिति। ननु नीलज्ञानं नष्टं, पीतज्ञानं जातम्, इति प्रतीतेन ज्ञानस्यानपायित्वम्? तत्राह,—इन्द्रियबलेनेति, सदेव ज्ञानमेकमिन्द्रियबलेन विविधं कल्पितम्। नीलाद्याकारा वृत्तय एव जायन्ते नयन्ति च, न ज्ञानमिति भावः। अयमागमापायि—तदवधिभेदेन प्रथमस्तर्कः *। द्रष्टृदृश्यभेदेन द्वितीयोऽपि तर्को ज्ञेयः। व्यभिचारिष्ववस्थितस्याव्यभिचारे दृष्टान्तः— प्राणो यथेति ॥५३॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

जीवात्मनि ज्ञाते परमात्मा सुज्ञातः स्यादित्युक्तं, तदर्थं जीवात्मानं निरूपयिष्यन्नवतारयति;—तत्र यदीत्यादिना, अन्यार्थश्चेतिब्रह्मसूत्रम्। दहरविद्या छान्दोग्ये पठ्यते; "यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" (छान्दो०-

* अत्र तर्कद्वयात्मके वाक्ये श्रीमद्गोस्वामिभट्टाचार्य्यटीकादृष्ट्या पाठवैलक्षण्यमनुभूयते, तत्तु सुधीभिश्चिन्त्यम्।

८. १. १.) इति । अत्रोपासकस्य शरीरं ब्रह्मपुरं, तत्र हृत्पुण्डरीकस्थो दहरः परमात्मा ध्येयः कथ्यते, तत्रापहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकमन्वेष्टव्यमुपदिश्यते इति सिद्धान्तितम् । तद्वाक्यमध्ये—"स एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपम् सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स उत्तमः पुरुषः" इति वाक्यं पठितम् । तत्र सम्प्रसादो—लब्धविज्ञानो जीवस्तेन यत् परं ज्योतिरुपपन्नं स एव पुरुषोत्तम इत्यर्थः । दहरवाक्यान्तराले जीव-परामर्शः किमर्थम् ? इति चेत्तत्राह,—अन्यार्थ इति । तत्र जीव परामर्शोऽन्यार्थः । यं प्राप्य जीवः स्वस्वरूपेणाभिनिष्पद्यते, स परमात्मेति,—परमात्मज्ञानार्थ इत्यर्थः । न जजानेति,—'जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति च' इति भावविकाराः षट् पठिताः ते जीवस्य न सन्ति इति समुदायार्थः । ननु नीलज्ञानमित्यादिज्ञानरूपमात्मवस्तु ज्ञातृ भवति, प्रकाशवस्तु सूर्यः प्रकाशयिता यथा । ततश्च स्वरूपानुबन्धित्वाज्ज्ञानं तस्य नित्यं, तस्येन्द्रियप्रणाल्या * नीलादिनिष्ठा या विषयता—वृत्तिपदवाच्या, सैव नीलाद्यपगमे नश्यतीति ॥५३॥

हिन्दीटीका

दृष्टान्त का प्रदर्शन कर इन्द्रियादि के लय से निर्विकार आत्मा की उपलब्धि दिखलाते हैं—अण्डजों में, जरायुजों में, उद्भिज्जों में, स्वेदजों में आत्मा अनुवृत्त होता है, इस प्रकार दृष्टान्त में निर्विकारत्त्व प्रदर्शित कर दार्ष्टान्तिक में भी दिखाते हैं, जब जाग्रत में इन्द्रियाँ, जब स्वप्न में

* "प्रणाल्या" इत्यत्र "प्रणाल्पा" इति वा पाठः ।

संस्कारवाला अन्धकार, सुषुप्ति में सोने पर इन्द्रियाँ अहंकार में और अहंकार को कूटस्थ आत्मा में लीन होने पर कूटस्थ निर्विकार आत्मा ही रहता है। क्योंकि लिङ्ग शरीर उपाधि के बिना विकार हेतु उपाधि के अभाव से। अहंकार पर्यन्त सबके लय होने पर शून्य ही शेष रहेगा; अतः कहा—उस सुषुप्ति के अखण्ड आत्मा की साक्षी स्मृति हम जाग्रत् और द्रष्टाओं को होती है—इतने समय तक सुख के साथ सोता रहा कुछ भी नहीं जाना। अतः अननुभूत सुषुप्ति का स्मरण नहीं तो कैसे ऐसा अनुभव हुआ। विषय के साथ सम्बन्ध न होने से स्पष्ट नहीं होता। अतः स्वयं प्रकाश वस्तु सूर्य आदि के प्रकाश के समान उपलब्धिमात्र आत्मा का उपलब्धि अपने आश्रय में हैं, यह सिद्ध हुआ। श्रुति में—आत्मा इस अवस्था में दृश्य को नहीं देखता, विद्यमान दृश्य को देखते हुए भी नहीं देखता इससे द्रष्टा की दृष्टि नहीं हो जाती है। यह साक्षि-साक्ष्य विभाग से तीसरा तर्क जानना चाहिये ! दुःखी एवं प्रेमास्पद के विभाग से चौथा तर्क जानना जाहिये ॥५३॥

दृष्टान्तं विवृण्वन्निन्द्रियादिलयेन निर्व्विकारात्मोपलब्धिर्दर्शयति ;—

"अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः।
[भा० ११. ३. ३९]

अण्डेषु—अण्डजेषु। पेशिषु—जरायुजेषु। तरुषु—उद्भिज्जेषु। अविनिश्चितेषु—स्वेदजेषु। उपधावति—अनुवर्त्तते।

एवं दृष्टान्ते निर्व्विकारत्वं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकेऽपि दर्शयति,—कथं ? तदैवात्मा सविकार इव प्रतीयते, यदा जागरे इन्द्रियगणः यदा च स्वप्ने तत्संस्कारवानहङ्कारः। यदा तु प्रसुप्तं, तदा तस्मिन् प्रसुप्ते, इन्द्रियगणे सन्ने—लीने, कूटस्थः—निर्व्विकार एवात्मा। कुतः ? आशमृते—लिङ्गशरीरमुपाधिं विना विकारहेतोरुपाधेरभावात् इत्यर्थः। नन्वहङ्कारपर्यन्तस्य सर्व्वस्य लये शून्यमेवावशिष्यते, क्व तदा कूटस्थ आत्मा ? अत आह, —तदनुस्मृतिर्नः ; तस्य—अखण्डात्मनः सुषुप्तिसाक्षिणः स्मृतिः नः—अस्माकं जाग्रद्द्रष्टॄणां जायते ;—एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सं, न किञ्चिदवेदिषम्" इति। अतोऽननुभूतस्य तस्यास्मरणादस्त्येव सुषुप्तौ तादृगात्मानुभवः, विषयसम्बन्धाभावाच्च न स्पष्ट इति भावः। अतः स्वप्रकाशमात्रवस्तुनः सूर्य्यादेः प्रकाशवदुपलब्धिमात्रस्याप्यात्मन उपलब्धिः—स्वाश्रयेऽस्त्येवेत्यायातम्। तथा च श्रुतिः ;—

"यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै द्रष्टव्यान्न पश्यति, न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विलोपो विद्यते" [वृ० आ०४. ३. २३]

अयं साक्षि-साक्ष्यविभागेन तृतीयस्तर्कः। दुःखि-प्रेमास्पदत्वविभागेन चतुर्थोऽपि तर्कोऽनुगन्तव्यः ॥५४॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

दृष्टान्तमिति,—प्राणस्य नानादेहेष्वैकरूप्यान्निर्विकारत्वमित्यर्थः । तस्मिन् आत्मनि । उपाधेः—लिङ्गशरीरस्य, अभावात्—विश्लेषादित्यर्थः । तदाप्यतिसूक्ष्माया वासनायाः सत्त्वान्मुक्तेरभाव इति ज्ञेयम् । प्राकृताहङ्कारे लीनेऽपि स्वरूपानुबन्धिनोऽहमर्थस्य सत्त्वात्तेन 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति विमर्शो भवतीति प्रतिपादयितुमाह ;—नन्वित्यादि । शून्यमेवेति—अहंप्रत्ययं विनात्मनोऽप्रतीतेरिति भावः । अखण्डात्मन इति अणुरूपत्वाद्विभागानर्हस्येत्यर्थः । ननु स्वापादुपस्थितस्यात्मनोऽहङ्कारेण योगात् 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति विमर्शो जागरे सिध्यति, सुषुप्तौ तु चिन्मात्रः सः ? इति चेत्तत्राह,—अतोऽननुभूतस्येति । अनुभवस्मरणयोः सामानाधिकरण्यादित्यर्थः । तस्मात्तस्यामपि—'अनुभवितैतात्मा' इति सिद्धम् । ननूपलब्धिमात्रमित्युक्तं, तस्योपलब्धृत्वं कथं ? तत्राह,—अत इत्यादि । यद्वै इति तदात्मचैतन्यं कर्त्तृ, सुषुप्तौ न पश्यतीति यदुच्यते, तत् खलु द्रष्टव्यविषयाभावादेव, न तु द्रष्टृत्वाभावादित्यर्थः । स्फुटमन्यत् ।।५४।।

हिन्दीटीका

अन्वय एवं व्यतिरेक से चार तर्क होते हैं, आगमापायी (यातायात) और उसके अवधि-भेद से प्रथम ! द्रष्टा-दृश्य विभाग से दूसरा, साक्षि-साक्ष्य भेद से तीसरा, दुःखी प्रेमास्पद रूप से सुख बोधक चौथा तर्क, श्री पिप्पलायन ने निमि ने कहा ।।५४

तदुक्तम् ;—

अन्वयव्यतिरेकाख्यस्तर्कः स्याच्चतुरात्मकः ।
आगमापायि-तदवधिभेदेन प्रथमो मतः ॥
द्रष्टृदृश्यविभागेन द्वितीयोऽपि मतस्तथा ।
साक्षिसाक्ष्यविभागेन तृतीयः सम्मतः सताम् ॥
दुःखिप्रेमास्पदत्वेन चतुर्थः सुखबोधकः ११। ३।

इति श्रीपिप्पलायनो निमिम् ॥५५॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

पद्ययोर्व्याख्याने चत्वारस्तर्का योजितास्तानभियुक्तोक्ताभ्यां सार्द्ध-कारिकाभ्यां निर्दिशति ;—अन्वयेति। तर्कशब्देन तर्काङ्कमनुमानं बोध्यम्। आगमापायिनो दृश्यात् साक्षाद्दुःखास्पदाच्च देहादेरात्मा भिद्यते। तदवधित्वात्, तद्द्रष्टृत्वात्, तत्साक्षित्वात् प्रेमास्पदत्वाच्चेति क्रमेण हेतवो नेयाः। व्यतिरेकश्चोह्यः ॥५५॥

हिन्दीटीका

इस प्रकार के जीवों का जो चित्मात्र स्वरूप है वह उसी आकृति से अंशी ब्रह्म से अभिन्नतत्व है, वही यहाँ वाच्य है यह व्यष्टि (व्यक्तिगत)निर्देशद्वारा कहा गया। वही आश्रय नामक है, महापुराण के लक्षण में सर्ग आदि अर्थों से समष्टि द्वारा लक्षित है इन दो श्लोकों से यहाँ पर सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा,

निरोध, मुक्ति, आश्रय, इन दसों का वर्णन है। दशमविशुद्धि = तत्व-ज्ञान के लिये नौ का स्वरूप वर्णन करते हैं। यह तो प्रतीत नहीं होता—अतः कहा श्रुतिकण्ठोक्ति से स्तुति आदि के द्वारा अनायास साक्षात् वर्णन है। अर्थ से—तात्पर्यवृत्ति द्वारा उन आख्यानों में ॥५५॥

एवम्भूतानां जीवानां चिन्मात्रं यत् स्वरूपं, तयैवाकृत्या तदंशित्वेन च, तदभिन्नं यत् तत्त्वं तदत्र वाच्यम् इति व्यष्टि-निर्देशद्वारा प्रोक्तम्। तदेव ह्याश्रयसंज्ञकम्। महापुराणलक्षण-रूपैः सर्गादिभिरर्थैः समष्टिनिर्देशद्वारापि लक्ष्यते; इत्यत्राह द्वाभ्याम् ;—

"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥"

[भा० २. १०. १२]

मवन्तराणि चेशानुकथाश्च मन्वन्तरेशानुकथाः। अत्र सर्गादयो दशार्था लक्ष्यन्त इत्यर्थः। तत्र च दशमस्य विशुद्ध्यर्थं —तत्त्वज्ञानार्थं, नवानां लक्षणं स्वरूपं वर्णयन्ति। नन्वत्र नैवं प्रतीयते? अत आह,—श्रुतेन—श्रुत्या कण्ठोक्त्यैव स्तुत्यादि-

स्थानेषु, अञ्जसा—साक्षाद्वर्णयन्ति, अर्थेन—तात्पर्य्यवृत्त्या च तत्तदाख्यानेषु ॥५६॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

ईश्वरज्ञानार्थं जीवस्वरूपज्ञानं निर्णीतम्। अथ तत्साहश्येनेश्वर-स्वरूपं निर्णेतुं पूर्व्वोक्तं योजयति ;—एवम्भूतानामित्यादिना। चिन्मात्रं यत् स्वरूपमिति—चेतयितृ चेति बोध्यं पूर्व्वनिरूपणात्। तयैवाकृत्येति—चिन्मात्रत्वे सति चेतयितृत्वं याकृतिर्ज्जातिस्तयेत्यर्थः। "आकृतिस्तु स्त्रियां रूपे सामान्यवपुषोरपि" इति मेदिनी। तदंशित्वेन—जीवांशित्वेन चेत्यर्थः। तदभिन्नं—जीवाभिन्नम्, यद्—ब्रह्मतत्त्वम्। अंशः खलु अंशिनो न भिद्यते, पुरुषादिव दण्डिनो दण्डः। व्यष्टीती ; समुदायः—समष्टिः, तदेकदेशस्तु—व्यष्टिः इत्यर्थः। जीवादिशक्तिवद् ब्रह्म—समष्टिः, जीवस्तु व्यष्टिः। तादृशजीवनिरूपणद्वारा शास्त्रस्य ब्रह्म सम्बन्धित्वमुक्तम्। अथ जीवादिशक्तिविशिष्टसमष्टिब्रह्मनिरूपणेन तस्य तथात्वं वक्तव्यमित्यर्थः। दशमस्य चेश्वरस्य। अवशिष्टः स्फुटार्थः ॥५६॥

हिन्दीटीका

वही दशम को स्पष्ट करने के लिये उन दसों को स्पष्ट करने-वाली सप्तश्लोकी कहते हैं। भूत = आकाशादि, मात्रा = शब्दादि, एवं इन्द्रियाँ, धी = महत्त्व और अहंकार, गुणों के परिणाम से कर्त्ता ब्रह्म परमेश्वर से भूत = प्राणियों का जन्म सर्ग कहलाता है। विराज-पुरुष ब्रह्मा के द्वारा चराचर की सृष्टि को विसर्ग कहते हैं। वैकुण्ठ भगवान्

की विजय सृष्टिकर्त्ताओं का मर्यादा के पालन से उत्कर्ष को स्थान कहते हैं। प्रत्येक मन्वन्तरों में स्थित मनु आदि के अनुगृहीत सज्जनों का चरित्र वही धर्म है, भगवदुपासना नामक धर्म सद्धर्म है, उसमें स्थित नाना कर्म वासनाओं को ऊति कहते हैं। स्थिति में भगवान् के अव-तारों का चरित्र एवं उनके अनुवर्तियों की कथा ईशानुकथा कहलाती है, यह अनेक आख्यानों से वर्द्धित है। स्थिति के अनन्तर आत्मा एवं जीव का शक्ति और उपाधि के साथ रहना हरि का अनुशयन कहलाता है, श्रीहरि का शयनानुगतत्वेन शयन निरोध है। हरिशयन = प्रपञ्च के प्रति दृष्टि बन्द करना, जीवों का शयन = उस निरोध में लय होना। उस निरोध में अन्यथा रूप अविद्या के द्वारा अध्यस्त अज्ञत्वादि को छोड़ कर स्वरूप से व्यवस्थित होना मुक्ति है ॥५६॥

तमेव * दशमं विस्पष्टयितुं तेषां दशानां व्युत्पादिकां सप्तश्लोकीमाह ;—

भूतमात्रेन्द्रिय-धियां जन्मसर्ग उदाहृतः । १०,
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्विसर्गः पौरुषः स्मृतः ॥" [भा० २. १०. ३]

भूतानि—खादीनि, मात्राणि च—शब्दादीनि, इन्द्रियाणि च धी-शब्देन महदहङ्कारौ। गुणानां। वैषम्यात्—परिणामात्—ब्रह्मणः—परमेश्वरात् कर्त्तुर्भूतादीनां जन्म—सर्गः पुरुषो वैराजो ब्रह्मा, तत्कृतः—पौरुषः ; चराचरसर्गो विसर्ग इत्यर्थः ।

* "तदेवं" इति वा पाठः ।

"स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः ।
मन्वन्तराणि सद्धर्म्म ऊतयः कर्म्मवासनाः ॥
अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्त्तिनाम् ।
पुंसामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥"

[भा० २.१०. ४-५]

वैकुण्ठस्य भगवतो विजयः—सृष्टानां तत्तन्मर्य्यादापालनेनोत्कर्षः, स्थितिः—स्थानम् । ततः स्थितेषु स्वभक्तेषु तस्यानुग्रहः—पोषणम् । मन्वन्तराणि तत्तन्मन्वन्तरस्थितानां मन्वादीनां तदनुगृहीतानां सतां चरितानि, तान्येव धर्म्मस्तदुपासनाख्यः सद्धर्म्मः । तत्रैव स्थितौ नानाकर्म्मवासना—ऊतयः । स्थितावेव हरेरवतारानुचरितं अस्यानुवर्त्तिनाञ्च कथाः—ईशानुकथाः प्रोक्ता इत्यर्थः ।

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥

[भा० २. १०. ६]

स्थित्यनन्तरं चात्मनोजीवस्य शक्तिभिः स्वोपाधिभिः सहास्य हरेरनुशयनं, हरिशयनानुगतत्वेन शयनं निरोध इत्यर्थः । तत्र हरेः शयनं—प्रपञ्चं प्रति दृष्टिनिमीलनं, जीवानां

शयन—तत्र लय इति ज्ञेयम् । तत्रैव निरोधेऽन्यथारूपमविद्या-नुध्यस्तमज्ञत्वादिकं हित्वा स्वरूपेण व्यवस्थितिः—मुक्तिः ॥५७॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

सर्गादीन् दश व्युत्पादयति—तदेवमित्यादिना । ब्रह्मणः—परमेश्वरा-दिति । कारणसृष्टिः—पारमेश्वरी, कार्य्यसृष्टिस्तु—वैरिञ्चीत्यर्थः । मुक्ति-रिति—भगवद्वैमुख्यानुगतयाऽविद्यया रचितमन्यथा रूपं देवमान-वादिभावं हित्वा, तत्साम्मुख्यानुप्रवृत्तया तद्भक्त्या विनाश्य स्वरूपेणाप-हतपाप्मत्वादिगुणाष्टकविशिष्टेन जीवस्वरूपेण जीवस्य व्यवस्थिति-र्विशिष्टा पुनरावृत्तिशून्या भगवत्सन्निधौ स्थितिर्मुक्तिरित्यर्थः ॥५७॥

हिन्दीटीका

आभास = सृष्टिः, निरोध = जिससे लय होता है, अध्यवसाय = उपलब्धि है, जीवों की ज्ञानेन्द्रियों में जो प्रकाशित है वही ब्रह्म परमात्मा नाम से प्रसिद्ध आश्रय है । अतः भगवान् का विवरण आगे करेंगे ॥५७॥

"आभासश्च विरोधश्च यतोऽस्त्यध्यवसीयते ।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥"

[भा० २. १०. ७]

आभासः—सृष्टिः, निरोधः—लयश्च यतो भवति, अध्यव-सीयते—उपलभ्यते जीवानां ज्ञानेन्द्रियेषु प्रकाशते च, स ब्रह्मेति

परमात्मेति प्रसिद्ध आश्रयः कथ्यते। इति शब्दः—प्रकारार्थः, तेन भगवानिति च। अस्य विवृतिरग्रे विधेया ॥५८॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

अथ नवभिः सर्गादिभिर्लक्षणीयमाश्रयतत्त्वमाह ;—आभासश्चेति। यत इति—हेतौ पञ्चमी ॥६८॥

हिन्दीटीका

स्थिति में आश्रय स्वरूप को प्रत्यक्षानुभव से व्यष्टि (व्यक्ति) द्वारा भी स्पष्ट दिखाने के लिये अध्यात्मादि विभाग बताते हैं—जो यह आध्यात्मिक पुरुष चक्षु आदि इन्द्रियाभिमानी द्रष्टा जीव है वही आधिदैविक चक्षु आदि के अधिष्ठाता सूर्य्य आदि हैं। देह की सृष्टि से पूर्व्व इन्द्रियों के अधिष्ठान का अभाव होने से असमर्थता के कारण इन्द्रियों के प्रकाश कर्त्तृत्व का अभिमानी और उसका सहायक इन दोनों की भी वृत्तिभेद का उदय न होने से जीवत्वमात्र ही समान है। इसके अनन्तर दोनों इन्द्रियों का अभिमानी तथा उनके अधिष्ठातृ देवता रूप—दो रूपों का जिससे विच्छेद है। वह आधिभौतिक आँखों के गोलक से उपलक्षित दृश्य देह पुरुष है यह पुरुष जीव उपाधि है। वही पुरुष है जोकि अन्नमय, रसमय है, श्रुति में ॥५८॥

स्थितौ च तत्राश्रयस्वरूपमपरोक्षानुभवेन व्यष्टिद्वारापि स्पष्टं दर्शयितुमध्यात्मादिविभागमाह ;—

"योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः ॥
एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे ।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रय ॥"

[भा० २. १०. ८—९]

योऽयमाध्यात्मिकः पुरुषश्चक्षुरादिकरणाभिमानी द्रष्टा जीवः, स एवाधिदैविकश्चक्षुराद्यधिष्ठाता सूर्य्यादिः। देहसृष्टेः पूर्व्वं करणानामधिष्ठानाभावेनाक्षमतया करणप्रकाशकत्त्वाभिमानि-तत्सहाययोरुभयोरपि तयोर्वृत्तिभेदानुदयेन जीवत्वमात्राविशेषात्। ततश्चोभयः—करणाभिमानितदधिष्ठातृदेवतारूपो द्विरूपो विच्छेदो यस्मात्, स आधिभौतिकश्चक्षुर्गोलकाद्युपलक्षितो दृश्यो देहः पुरुष इति—पुरुषस्य जीवस्योपाधिः। "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" (तैत्ति० २. १. १.) इत्यादिश्रुतेः ॥५९॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

ननु करणाभिमानिनो जीवस्य करणप्रवर्त्तकसूर्य्यादित्वमत्र कथं?—तत्राह,— देहसृष्टेः पूर्व्वमिति करणानामिति,—अधिष्ठानाभावेन—चक्षुर्गोलकाद्यभावेनेत्यर्थः। उभयोरपि तयोर्वृत्तिभेदानुदयेनेति—करणानां विषयग्रहणं वृत्तिः, देवतानां तु तत्र प्रवर्त्तकत्वं वृत्तिः। अयमत्र निष्कर्षः

;—देहोत्पत्तेः पूर्व्वमपि जीवेन सार्द्धमिन्द्रियाणि तद्देवताश्च सन्त्येव, तदा तेषां तेषाञ्च वृत्त्यभावाज्जीवेऽन्तर्भावो विवक्षितः। उत्पन्ने तु देहे तयोर्व्विभागो यद्भवतीत्याह—ततश्चोभय इति ॥५६॥

हिन्दीटीका

इन्द्रियाधिष्ठातृ देवता, इन्द्रियाभिमानी द्रष्टा, दृश्य, एक में एक का अभाव है, अतः परस्पर सापेक्ष सिद्ध करने के लिये नानाश्रयत्वाद् कहते हैं। दृश्य के बिना उसकी प्रतीति अनुमेयकरणं सिद्ध नहीं। द्रष्टा के बिना भी नहीं, क्योंकि उसके बिना इन्द्रिय प्रवृत्ति अनुमेय, अधिष्ठाता सूर्यादि, उसके बिना इन्द्रियाँ प्रवृत्त न होंगी, उसके बिना दृश्य भी नहीं, एक के अभाव में एक नहीं प्राप्त करेंगे। वह तीनों को आलोचनात्मक निर्णय से जानता है—साक्षि रूप से वह देखता है, वह परमात्मा आश्रय है। उनका भी परस्पर आश्रय है। अतः उसको निरस्त करने के लिये विशेषतः—अनन्याश्रय, वह अन्यों का आश्रय है। अंश और अंशी शुद्ध जीवात्मा परमात्मा का अभेदांश स्वीकार से आश्रय कहा। अतः पर भी अनर्थ को मानता है—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये गुण से बुद्धि की वृत्तियाँ हैं इनसे विलक्षण जीव साक्षि रूप स्वीकार है। अविशुद्धकर्त्ता से शुद्धविख्यात है इस उक्ति का साक्षि-नामक शुद्ध जीव को आश्रय नहीं शंका करना। अथवा आध्यात्मिकादि आश्रय है ही? सत्य है, तथापि परस्पर आश्रय होने के कारण आश्रयता कैवल्य नहीं है जो आश्रय शब्द से मुख्यतया नहीं कहते उनके लिए कहते हैं—एकम् से साक्षी ही आश्रय हो। तब कहाँ तीन हैं। वह साक्षी

आत्मा जीव, अपने आश्रय-अनन्याश्रय परमात्मा वह है आश्रय जिसका हंसगुह्य स्तव में कहेंगे। ब्रह्मज्ञ पुरुष सर्व गुणों को जानता है किन्तु आगे सर्वज्ञ अनन्त को नहीं जानता। मैं उनकी स्तुति करता हूँ। इससे "आभासश्च" इसके द्वारा कहा गया परमात्मा आश्रय है ॥५६॥

'एकमेकतराभाव' इत्येषामन्योन्यसापेक्षसिद्धत्वे नानाश्रयत्वं दर्शयति ;—तथाहि दृश्यं विना तत्प्रतीत्यनुमेयं करणं न सिध्यति, नापि द्रष्टा, न च तद्विना करणप्रवृत्त्यनुमेयस्तदधिष्ठाता सूर्य्यादिः, न च तं विना करणं प्रवर्त्तते, न च तद्विना दृश्यम् इत्येकतरस्याभावे एकं नोपलभामहे। तत्र—तदा, तत् त्रितय-मालोचनात्मकेन प्रयत्नेन यो वेद—साक्षितया पश्यति, स पर-मात्मा आश्रयः। तेषामपि परस्परमाश्रयत्वमस्तीति तद्व्यव-च्छेदार्थं विशेषणम् ;—स्वाश्रयः—अनन्याश्रयः, स चासावन्येषामाश्रयश्चेति। तत्रांशांशिनोः शुद्धजीव-परमात्मनोरभेदांश-स्वीकारेणैवाश्रय उक्तः। ततः "परोऽपि मनुते-नर्थम्" इति।

"जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तञ्च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विवक्षितः॥"

[भा०११. १३. २९]

इति "शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्त्तुः" (भा० ५. ११. १२) इत्याद्युक्तस्य साक्षिसंज्ञिनः शुद्धजीवस्याश्रयत्वं न शङ्कनीयम्। अथवा ;—नन्वाध्यात्मिकादीनामप्याश्रयत्वमस्त्येव ? सत्यम्; तथापि परस्पराश्रयत्वान्न तत्राश्रयताकैवल्यमिति ते त्वाश्रयशब्देन मुख्यतया नोच्यन्ते इत्याह—एकमिति। तर्हि साक्षिण एवास्ताश्रयत्वम् ? तत्राह ;—त्रितयमिति। स आत्मा साक्षी जीवस्तु, यः स्वाश्रयोऽनन्याश्रयः परमात्मा, स एवाश्रयो यस्य तथाभूत इति। वक्ष्यते च हंसगुह्यस्तवे ;—

"सर्व्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो न वेद सर्व्वज्ञमनन्तमीडे" (भा० ६.४.२५) इति। तस्मात् 'आभासश्च' इत्यादिनोक्तः परमात्मैवाश्रय इति। २।१०। श्रीशुकः ॥६०॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

अध्यात्मिकादीनां त्रयाणां मिथः सापेक्षत्वेन सिद्धेस्तेषामाश्रयत्वं नास्तीति व्याचष्टे; एकमेकतरेत्यादिना। त्रितयं—आध्यात्मिकादित्रयम्। ननु शुद्धस्य जीवस्य देहेन्द्रियादिसाक्षित्वाभिधानेनान्यानपेक्षत्वसिद्धेस्तस्याश्रयत्वं कुतो न ब्रूषे। तत्राह—अत्रांशांशिनोरिति,--अंशिनांशोऽपीह गृहीत इत्यर्थः। असन्तोषाद्व्याख्यान्तरं अथवेति। तर्हि इति; साक्षिणः शुद्धजीवस्य। सर्व्वमिति ; पुमान्—जीवः ॥६०॥

हिन्दीटीका

इस श्रीभागवत का महापुराण व्यञ्जक लक्षण को प्रकारान्तर से कहते हुए उसको ही आश्रय कहते हैं। दो श्लोकों में—सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, अक्ष, अन्तर, वंश, वंशचरित्र, संस्था, हेतु, अपाश्रय, पुराण के ज्ञाता—इन दस लक्षणों से युक्त को पुराण कहते हैं। कोई पाँच लक्षणों से युक्त है यही छोटे-बड़े की व्यवस्था है। अन्तर = मन्वन्तर पाँच प्रकार के हैं—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर, वंशानुचरित ये पांच लक्षण पुराण के हैं। ऐसा कोई कहते हैं। यह मतभेद छोटे-बड़े की व्यवस्था से भिन्न अधिकार से पुराण महापुराण कहलाते हैं। यद्यपि विष्णु-पुराण आदि में दसों लक्षण घटित हैं तथापि पाँच को ही प्रधानतया कहा है, अतः अल्पत्व है। श्रीभागवत में दस अर्थों का स्कन्धों के क्रम से निवेश नहीं किया गया है क्योंकि इन स्कन्धों की संख्या १२ है। द्वितीय स्कन्ध में जो लक्षण कहे उनका भी तृतीय से १२ तक स्कंधों में क्रमशः निवेश नहीं है। निरोध आदि दशा आदि में अष्टम को छोड़ कर; अन्य में अन्य का यथोक्त लक्षणत्वेन समावेश अशक्य है। श्रीधरस्वामी ने कहा—दशमस्कन्ध में श्रीकृष्णकीर्ति विस्तार में वर्णन करते हैं। धर्म की ग्लानि निमित्त दुष्ट राजाओं का विरोध भी इसमें वर्जित है। प्राकृतादि चार प्रकार का निरोध वर्णित किया अतः इस ग्रन्थ में श्रीकृष्ण रूप आश्रय का प्रधानतया वर्णन अपेक्षित है। स्वयं कहा भी है—आश्रय-विग्रह का आश्रित का दशम में दशम ही लक्ष्य है। इस प्रकार अन्यत्र भी संगति करें, अतः प्रायः सभी अर्थ सभी स्कंधों में गुणत्वेन मुख्यत्वेन

वा निरूपित यही उनका अभिमत है "श्रु तेनार्थेन" इस स्थान पर भी यही प्रतिज्ञा की, सब प्रत्येक स्थल पर असम्भव है । अतः क्रमशः ही ग्रहण किया ॥६०॥

अस्य श्रीभागवतस्य महापुराणत्वव्यञ्जकलक्षणं प्रकारान्तरेण च वदन्नपि तस्यैवाश्रयत्वमाह, द्वयेन ;—

"सर्गोऽस्यार्थविसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च ।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ।
केचित् पञ्चविधं ब्रह्मन् ! महदल्पव्यवस्थया ॥" 1.10
[भा० १२. ७. ८-६]

अन्तराणि—मन्वन्तराणि । पञ्चविधं—"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंश्यानुचरितञ्चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥"—इति केचिद्वदन्ति ।

स च मतभेदो महदल्पव्यवस्थया—महापुराणमल्पपुराणमिति भिन्नाधिकरणत्वेन । यद्यपि विष्णुपुराणादावपि दशापि तानि लक्ष्यन्ते, तथापि पञ्चानामेव प्राधान्येनोक्तत्वात्—अल्पत्वम् । अत्र दशानामर्थानां स्कन्धेषु यथाक्रमं प्रवेशो न विवक्षितः, तेषां द्वादशसंख्यत्वात् । द्वितीयस्कन्धो तेषां तृतीयादिषु यथा-

संख्यं न समावेशः ; निरोधादीनां दशमादिषु अष्टमवर्ज्जम्, अन्येषामप्यन्येषु यथोक्तलक्षणतया समावेशनाशक्यत्वादेव। तदुक्तं श्रीस्वामिभिरेव ;—

"दशमे कृष्णसंकीर्त्तिर्वितानायोपवर्ण्यते।
धर्म्मग्लानिनिमित्तस्तु निरोधो दुष्टभूभुजाम् ॥" इति,

"प्राकृतादिचतुर्द्धा यो निरोधः स तु वर्णितः" इति। अतोऽत्र स्कन्धे श्रीकृष्णरूपस्याश्रयस्यैव वर्णनप्राधान्यं तैर्विवक्षितम् उक्तञ्च स्वयमेव ;

"दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रयविग्रहः" इति।

एममन्यत्राप्युन्नेयम्। अतः प्रायशः सर्व्वेऽर्थाः सर्व्वेष्वेव स्कन्धेषु गुणत्वेन वा मुख्यत्वेन वा निरूपयन्त इत्येव तेषामभिमतम्। "श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा" इत्यत्र च तथैव प्रतिपन्नं, सर्व्वत्र तत्तत्सम्भवात्। ततश्च प्रथम-द्वितीययोरपि महापुराणतायां प्रवेशः स्यात् क्रमो न गृहीतः ॥६१॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

अस्येति । प्रकारान्तरेणेति—क्वचिन्नामान्तरत्वादर्थान्तरत्वाच्चेत्यर्थः। एतानि दशलक्षणानि केचित्तृतीयादिषु क्रमेण स्थूलधियो

योजयन्ति, तान्निराकुर्व्वन्नाह—द्वितीयस्कन्धोक्तानामिति । अष्टादश-सहस्त्रित्वं द्वादशस्कन्धित्वं च भागवतलक्षणं व्याकुप्येत, अध्यायपूर्त्तौ भागवतत्वोक्तिश्च न सम्भवेदिति च बोध्यम् । शुकभाषितञ्चेद्-भागवतं; तर्हि प्रथमस्य द्वादशशेषस्य च तत्त्वानापत्तिः । तस्मादष्टादश-सहस्त्रि तत्पितुराचार्य्याच्छुकेनाधीतं कथितञ्चेति साम्प्रतं, संवादास्तु तथैवानादिसिद्धा मिवद्धा इति साम्प्रतम् ॥६१॥

हिन्दीटीका

अब सर्गादि का लक्षण कहते हैं—प्रधान के गुणों में क्षोभ से महत्तत्त्व—उससे त्रिगुण अहंकार, उससे भूतमात्रा, भूतसूक्ष्म, इन्द्रिय, स्थूलभूत, तदुपलक्षित देवताओं का उत्पन्न होना सर्ग, कारण सृष्टि को सर्ग कहते हैं । पुरुष = परमात्मा उनसे अनुगृहीत इन महत्तत्त्वादि जीव के पूर्व कर्म वासना प्रधान यह समुदाय कार्यभूत चराचर प्राणिरूप बीज से बीज के समान प्रवाह रूप में प्राप्त सृष्टि को विसर्ग कहते हैं । व्यष्टि सृष्टि का नाम विसर्ग है । इससे ऊति कही गई । चराचर प्राणियों की कामना से वृत्ति । उसमें मनुष्यों के अपने स्वभाव से कामना से प्रेरणा में निश्चित वृत्ति—जीविका की उसे वृत्ति कहते हैं । भगवान् के अवतार की इच्छा विश्वरक्षा के लिये प्रत्येक युग में होती है, तिर्यक् , मर्त्य, ऋषि, देव रूप में वेद द्रोहियों का संहार करते हैं, इससे —ईशकथा, स्थान, पोष ये तीन कहे । मन्वादि के आचरण कथन से सद्धर्म ही यहाँ अपेक्षित है । पूर्वग्रन्थ से एकार्थ बता रहे हैं—ब्रह्मा से उत्पन्न राजाओं का वंश एवं त्रैकालिक सन्तति, तथा वंशानुचरित उनके वंशधरों का चरित्र वर्णित है ॥६१॥

अथ सर्गादीनां लक्षणमाह ;—

"अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः ।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते ॥"

[भा० १२. ७. ११]

प्रधानगुणक्षोभान्महान्, तस्मात्त्रिगुणोऽहङ्कारः, तस्माद्-भूतमात्राणां भूतसूक्ष्माणां इन्द्रियाणाञ्च, स्थूलभूतानाञ्च, तदुपलक्षिततद्देवतानाञ्च सम्भवः सर्गः; कारणसृष्टिः सर्ग इत्यर्थः ।

"पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः ।
विसर्गोऽयं समाहारी वीजाद्वीजं चराचरम् ॥"

[भा० १२. ७. १२]

पुरुषः—परमात्मा । एतेषां—महदादीनां, जीवस्य पूर्व्व-कर्म्मवासनाप्रधानोऽयं समाहारः—कार्य्यभूतश्चराचरप्राणिरूपो वीजाद्वीजमिव प्रवाहापन्नो विसर्ग उच्यते; व्यष्टिसृष्टिर्विसर्ग इत्यर्थः । अनेनोनितिरप्युक्ता ।

"वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च ।
कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा ॥"

[भा० १२. ७. १३]

चराणां—भूतानां सामान्यतोऽचराणि च-काराच्चराणि च कामाद् वृत्तिः । तत्र तु नृणां स्वेन स्वभावेन कामाच्चोदनयापि वा या नियता वृत्तिर्जीविकाकृता, सा वृत्तिरुच्यते इत्यर्थः ।

"रक्षाच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे ।
तिर्य्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः॥"

[भा० १२. ७. १४]

यैः—अवतारैः । अनेन—ईशकथा, स्थानं पोषणञ्च—इति त्रयमुक्तम् ।

"मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्रा सुरेश्वराः ।
ऋषयोंऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥"

[भा० १२. ७. १५]

मन्वाद्याचरणकथनेन सद्धर्म एवात्र विवक्षित इत्यर्थः । ततश्च प्राक्तनग्रन्थेनैकार्थ्यम् ।

"राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः ।
वंश्यानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च वै ॥"

[भा० १२. ७. १५]

तेषां राज्ञां ये च वंशधरास्तेषां वृत्तं वंश्यानुचरितम् ॥६२॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

उद्दिष्टानां सर्गादीनां क्रमेण लक्षणानि दर्शयितुमाह ;—अथेत्यादि। अव्याकृतेति—त्रिवृत्पदं महतोऽपि विशेषणं बोध्यम् । "सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान्" इति वैष्णवात् । "पुरुषः—परमात्मा विरिञ्चान्तःस्थः" इति बोध्यम् । स्फुटार्थानि शिष्टानि ॥६२॥

हिन्दीटीका

नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य, आत्यन्तिक चार प्रकार के लय हैं, परमेश्वर के स्वभाव से = शक्ति से। आत्यन्तिक इससे मुक्ति का भी प्रवेश हो गया। इस विश्व में सृष्टि आदि का जीव निमित्त है। क्योंकि यह अविद्या से कर्म करता है। जिस हेतु को कोई प्रधानतया अनुशयी कहते हैं अन्य उपाधि के प्राधान्य अव्याकृत कहते हैं। श्री व्यास की समाधिलब्ध का विरोध होने से यहाँ जीव शुद्ध स्वरूप की ही आश्रयत्वेन व्याख्या नहीं करते हैं। किन्तु यही अर्थ है जाग्रत् आदि अवस्थाओं—मायामय, माया शक्ति कल्पित, महदादि द्रव्यों में केवल स्वरूप से भिन्न परमसाक्षि होने में कारण अन्वय जिसका वह ब्रह्म जीवों को वृत्तियों में शुद्ध स्वरूपता से एवं उपाधि से वर्तमान रहने पर स्थिति में अपाश्रय अप् का अर्थ = वर्जनक = ऊतिक्रम में पर्यवसान है इस प्रकार अपाश्रय अभिव्यक्ति का द्वारभूत हेतु शब्द से व्यपदिष्ट जीव का स्वरूप बताते हैं दो श्लोकों से :— रूप नामात्मक पदार्थ घट आदि में जैसे द्रव्य पृथिवी आदि युत एवं अयुत है। कार्य दृष्टि के बिना ही वह प्राप्त है। इस प्रकार तन्मात्र शुद्ध जीव चैतन्यमात्र वस्तु गर्भाधानादि मृत्यु पर्यन्त नौ अवस्थाओं

में अविद्या से युत स्वतः अयुत शुद्ध आत्मा को इस प्रकार जानकर विरक्त होकर अपाश्रय के अनुसंधान योग्य होता है—अतः विरमेत कहा। तीन वृत्ति—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, रूप। आत्मा = परमात्मा। स्वयं वामेदवादि के समान मायामयत्व के अनुसन्धान से देवहूति आदि के तुल्य अनुष्ठान अथवा योग से। तब इच्छा का अनुशील करने से अतिरिक्त चेष्टा से इच्छा से निवृत्त होता है। श्रीसूत ने कहा यह सम्बन्ध आदिष्ट है ॥६२॥

"नैमेत्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः।
संस्थेति करिभिः प्रोक्तश्चतुर्द्धास्य स्वभावतः ॥"

[भा० १२. ७. १७]

अस्य—परमेश्वरस्य। स्वभावतः—शक्तितः। 'आत्यन्तिकः' इत्यनेन मुक्तिरप्यत्र प्रवेशिता।

"हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्म्मकारकः।
यञ्चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ॥"

[भा० १२. ७. १८]

हेतुः—निमित्तम्, अस्य-विश्वस्य, यतोऽयमविद्यया कर्म्म-कारकः। यमेव हेतुं केचिच्चैतन्यप्राधान्येनानुशयिनं प्राहुः; अपरे उपाधिप्राधान्येनाव्याकृतमिति।

"व्यतिरेकान्वयौ यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
मायामयेषु तद्ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः ॥"

[भा० १२. ७. १९]

श्रीबादरायणसमाधिलब्धार्थविरोधादत्र च जीव-शुद्धस्व-रूपमेवाश्रयत्वेन न व्याख्यायते; किन्तु अयमेवार्थः—जाग्रदादिष्ववस्थासु, मायामयेषु—मायाशक्तिकल्पितेषु महद्यादिद्रव्येषु च, केवलस्वरूपेण व्यतिरेकः परमसाक्षितयान्वयश्च यस्य तद् ब्रह्म जीवानां वृत्तिषु—शुद्धस्वरूपतया सोपाधितया च वर्त्तनेषु-स्थितिष्वपाश्रयः, सर्व्वमत्यतिक्रम्याश्रय इत्यर्थः। 'अप' इत्येतत् खलु वर्ज्जने, वर्ज्जनञ्चातिक्रमे पर्य्यवस्यतीति। तदेवमपाश्रयाभिव्यक्तिद्वारभूतं हेतुशब्दव्यपदिष्टस्य जीवस्य शुद्धस्वरूपज्ञानमाह, द्वाभ्याम् ;—

"पदार्थेषु यथाद्रव्यं तन्मात्रं रूपनामसु।
वीजादिपञ्चतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम् ॥
विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तित्रयं स्वयम्।
योगेन वा तदात्मानं वेदेहाया निवर्त्तते ॥"

रूप-नामात्मकेषु पदार्थेषु घटादिषु यथा द्रव्यं पृथिव्यादि-युतमयुतञ्च भवति, कार्य्यदृष्टिं विनाप्युपलम्भात्। तथा तन्मात्रं शुद्धं जीवचैतन्यमात्रं वस्तु गर्भाधानादिपञ्चतान्तासु नवस्वप्यवस्थासु अविद्यया युतं स्वतस्त्वयुतमिति शुद्धमात्मानमित्थं ज्ञात्वा निर्विण्णः सन्नपाश्रयानुसन्धानयोग्यो भवतीत्याह,—

विरमेतेति । वृत्तित्रयं—जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपम् । आत्मानं—परमात्मानम् । स्वयं—वामदेवादेरिव मायामयत्वानुसन्धानेन देवहुत्यादेरिवानुष्ठितेन योगेन वा । ततश्च ईहायाः—तदनुशीलनव्यतिरिक्तचेष्टायाः । १।७। श्रीसूतः। उद्दिष्टः सम्बन्धः ॥६३॥

इति कलियुगपावन-स्वभजनविभजनप्रयोजनावतार श्रीश्रीभगवत्-
कृष्णचैतन्यदेवचरणानुचरविश्ववैष्णवराजसभा-सभाजन-
भाजन-श्रीरूप-सनातनानुशासनभारतीगर्भे
श्रीभागवतसन्दर्भे "तत्त्वसन्दर्भो"
नाम प्रथमः सन्दर्भः ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृतटीका

पूर्व्वोक्तायां दशलक्षण्यां मुक्तिरेकालक्षणम्, अस्यान्तु चतुर्व्विधायां संस्थायां आत्यन्तिकलयशब्दिता मुक्तिरानीतेति ! यश्चानुशयिनमिति—भुक्तशिष्टकर्म्मविशिष्टो जीवः 'अनुशयी' इत्युच्यते । अपेति—मूर्त्या संज्ञया चोपेतेष्वित्यर्थः । कार्य्यदृष्टिमिति—घटादिभ्यः पृथगपि पृथिव्यादेः प्राप्तेरित्यर्थः । अपाश्रयेति---ईश्वरध्यानयोग्यो भवतीत्यर्थः । स्वयमिति---वामदेवः खलु गर्भस्थ एव परमात्मानं बुबुधे, योगेन देवहूतीत्यर्थः ॥६३॥

इति कलीति; कलियुगपावनं यत् स्वभजनं, तस्य वितरणं प्रयोजनं यस्य, तादृशः अवतारः प्रादुर्भावो यस्य श्रीभगवत्कृष्णचैतन्यदेवस्य चरणयोरनुचरौ, विश्वस्मिन् ये वैष्णवराजास्तेषां सभासु यत् सभाजनं सत्कारस्तस्य भाजने पात्रो च यौ रूप-सनातनौ, तयोरनुशासनभारत्य उपदेशवाक्यानि गर्भे मध्ये यस्य तस्मिन् ॥०॥

टिप्पनी तत्त्वसन्दर्भे विद्याभूषणनिर्म्मिता ।
श्रीजीवपाठसंपृक्ता सद्भिरेषाविशोध्यताम् ॥

इति श्रीमद् बलदेवविद्याभूषण-विरचिता-
तत्त्वसन्दर्भ-टिप्पनी समाप्ता ।

—इति—

